

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॐ



सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सव धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर । भक्ति अधीक्षक की अहेतुकी विन्मशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल धन्यकर ॥

वर्ष ४

गौराङ्ग ४७२, मास—नारायण १६, वार—अनिरुद्ध
बुधवार, २६ पौष, सम्वत् २०१५, १४ जनवरी १९५६

संख्या ७-८

श्रीश्रीचैतन्याष्टकम्

[श्रीश्रीमद-रूप-गोस्वामि-विरचितम्]

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

उपासित-पदाम्बुजस्तमनुरक्त-रुद्रादिभिः प्रपद्य गुरुषोत्तमं पदमदन्नमुद्राजितः ।
समस्त-नत-मण्डली-स्फुरद्भीष्ट-कल्पद्रुमः शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥१॥
नु यर्णयितुमोशते गुरुतरावतारयिता भवन्तमुरुबुद्धयो न खलु सार्धभौमादयः ।
परोभवतु तत्र कः पटुरगो नमस्ते परं शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥२॥
न यत् कथमपि श्रु तावुपनिषद्भिरप्याहितं स्वयञ्च विवृतं न यद् गुरुतरावतारान्तरे ।
क्षिपन्नसि रसावुधे तदिह भक्तिरत्नं शिवा शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥३॥
निज प्रणयविस्फुरद्वदनरंग विस्मापित त्रिनेत्र नतमण्डल प्रकटितानुरागासुत ।
अहंकृति कलंकितोद्धतजनादि दुर्वोध हे शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥४॥
भवन्ति भूवि ये नराः कलित-दुष्कलोत्पत्तय-स्वमुद्धरसि तानपि प्रचुर-चाह-कारययतः ।
इति प्रमुद्रितान्तरः शरणमाश्रितस्वामहं शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥५॥

मुखाभ्युज-परिरसलम्बुदुलवाङ्-भुलीरस प्रसंग-जनिताखिल प्रगत भृंगरङ्गोत्कर ।
 वसस्त-जनमङ्गल-प्रभव-नाम-रत्नाभ्युधे शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥ ६ ॥
 मृगाङ्गमधुरानन-स्फुरदनिद्र-पञ्चशय स्निहस्तवक-सुन्दरावर विशङ्कदोरस्तट ।
 भुजोद्धत मुजङ्गम-प्रभ मनोज-कोटिद्युत शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥ ७ ॥
 अहङ्कनक-केतकी कुरुम गौर वृष्टः क्षिती न दोषलवदक्षिता त्रिविध दाप पूर्णोऽपि ते ।
 अतः प्रवक्ष्यामि धिया वृषणवत्कल स्वां भजे शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्दे कृपाम् ॥ ८ ॥
 इदं धरणिमवदलोत्सव भवपदाङ्केषु धे निविष्ट मनसो नराः परिपठन्ति पद्याष्टकम् ।
 शचीहृदयनन्दन प्रकटकीर्त्तिवद्भ्रमो विजप्रणयनिर्भरं वितर देवतेभ्यः शुभम् ॥ ९ ॥

अनुवाद—

भक्तिरत्न-तत्त्वके आचार्य श्रीरूप गोस्वामी श्रीपुरु-
 पोत्तम क्षेत्रमें श्रीचैतन्य महाप्रभुका दर्शन कर स्तव
 कर रहे हैं—

हे शचीनन्दन ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द ! मुझ पर
 कृपा करो । मैं बड़ा ही मन्दभान्य हूँ, क्योंकि प्रकट-
 स्वरूप तुमको मैं दूसरी-दूसरी जगहोंमें दृढ़ रहा था ।
 रुद्र आदि देवगण—जो तुममें सर्वदा अनुरक्त रहते
 हैं—आचार्य आदिका रूप धारण कर तुम्हारे चरण-
 कमलोंकी उपासना कर रहे हैं । पुरुषोत्तम क्षेत्रमें
 पधार कर तुम अतिशय श्रेष्ठ रूपमें विराजमान हो ।
 तुम समस्त शरणागत जीवोंकी मनोकामना पूर्ण करने
 के लिये कल्पवृक्षके रूपमें उदित हुए हो । मैं तुम्हारी
 शरण लेता हूँ ॥ १ ॥

दत्तात्रेय, वादरायण आदि श्रेष्ठ मुनिजनोंके अथ-
 तार-स्वरूप जिनका आचरण है, अर्थात् जो उन मुनि-
 जनोंके समान प्रतिभाशाली हैं, वे परम बुद्धिमान सार्व-
 भौम आदि भी जब तुम्हारा स्तवन करनेमें समर्थ नहीं
 हुए, तब भला, दूसरा कौन उस कार्यमें समर्थ हो
 सकता है ? अतएव हे शचीसुत ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द
 मैं नतमस्तक होकर तुम्हारी शरण लेता हूँ, तुम मुझ
 पर कृपा करो ॥ २ ॥

वेद-शास्त्रोंमें उपनिषद्गण भी जिस विशुद्ध
 भक्ति-रत्नका स्पष्ट वर्णन नहीं कर सके हैं और स्वयं
 कृष्णचन्द्रने भी अपने व्यासादि बड़े-बड़े अवतारोंमें

जिसका स्पष्ट वर्णन नहीं किया है, उस परम गोपनीय
 रत्न-समुद्रके भक्ति-रत्नको तुम पृथ्वीतल पर धान्य-
 राशिकी तरह लुटा रहे हो, अतएव तुम्हारे समान
 कोई भी दयालु नहीं है । हे शचीसुत ! हे प्रभो ! हे
 मुकुन्द ! मुझ मन्दभान्य पर कृपा करो ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण-स्वरूप तुम्हारे प्रणय द्वारा उदित हुए
 नृत्यरंगका दर्शन कर शिवावतार श्रीध्वजैताचार्य
 अत्यन्त चकित हो रहे हैं । सम्पूर्ण भक्त-मण्डलीके
 निकट अनुरागामृतका स्वरूप प्रकट हुआ है । जाति-
 कुल और विद्या आदिके अहंकारसे उत्पन्न कलंकसे
 मोहित व्यक्तियोंके निकट तुम बोधगम्य नहीं हो ।
 ऐसे हे शचीनन्दन ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द ! तुम्हें बुद्धि
 वाले मुझ पर कृपा करो ॥ ४ ॥

संसारमें जो अत्यन्त नीच कुलमें पैदा हुए हैं
 उनका तुम अपनी अतिशय कमनीय करुणाके वशमें
 होकर उद्धार कर रहे हो । मैं इस संवादको सुनकर
 अत्यन्त आनन्दित होकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ ।
 हे शचीसुत ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द ! मुझ दीन हीन पर
 कृपा करो ॥ ५ ॥

तुम्हारे मुख-कमलसे भरते हुए मधुर वाणीरूप
 मकरन्द प्रसंग द्वारा निखिल भक्त-भ्रमरोंके चित्तमें
 विस्मय उत्पन्न होता है । तुम समस्त जन-समुदायके
 कल्याणकारी नाम-रत्नके समुद्र-स्वरूप हो । हे शची-
 नन्दन ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द ! मुझ दीन पर कृपा
 करो ॥ ६ ॥

परमानन्दका विस्तार करनेवाले तुम्हारे मुख-चन्द्रसे प्रफुल्लित युगल नेत्र-कमल स्तुति लाभ कर रहे हैं। तुम्हारे मन्द-मन्द हास्ययुक्त सुन्दर अधर और विशाल वक्रःस्थल अत्यन्त सुशाभित हो रहे हैं। उद्धत मुजंग जैसी तुम्हारी दोनों भुजाएँ नयनानन्दकी वृद्धि कर रही हैं। करोड़ों चन्द्रसे भी अधिक प्रभावाले हे शचीनन्दन ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द ! मुझ दीनपर कृपा करो ॥७॥

हे फनक रंगके केतकी-पुष्प जैसे गौर-वर्णवाले गौरांगदेव ! मैं जगतमें काम-क्रोध आदि दुर्गुणोंसे भरपूर हूँ। विविध-प्रकारके दुर्गुणोंसे पूर्ण जीवोंमें

भी तुम तनिक भी दोष नहीं देखते। तुम उनके (दुष्टोंके) समस्त दोषोंको क्षमा कर उनका उद्धार करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहते हो। इसलिए तुमसे मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैं दीन-भावसे तुम्हारा भजन करता हूँ। हे दीन-वत्सल ! हे शचीसुत ! हे प्रभो ! हे मुकुन्द ! मुझ दीनपर कृपा करो ॥ ८ ॥

हे धरणीमण्डलके उत्सव स्वरूप ! हे शचीनन्दन ! हे कीर्तिके मूर्त्तिमान प्रकट चन्द्र ! हे प्रभो ! जो व्यक्ति तुम्हारे चरणोंमें अतन्त्ररूपसे मन लगाकर इस पथाष्टकका पाठ करते हैं, तुम उनको परम कल्याण स्वरूप अपना प्रेम प्रदान करते हो ॥ ९ ॥

संत (सज्जन) के लक्षण

वदान्य (उदार) - ६

श्रीगौरसुन्दर जैसा दयालु चौदह भुवनों अन्यत्र कहीं भी नहीं है। उनकी अलौकिक दया प्राप्त कर उनके सेवकजन भी चौदह भुवनोंमें अतुलनीय दयालु हैं। जो वस्तु सत्य, व्रता और द्वापर युगोंमें अयो-यताका विचारकर जीवोंको प्रदान नहीं की गयी, उस उन्नत उज्ज्वल भक्ति-रस-माधुरीको अयो-यताका भी गौरजनोंने लुटाया है। श्रीनन्द-नन्दनकी अपार मधुरिमा एकमात्र भजन-पारङ्गत, अपराध-मुक्त नित्य-सिद्धजनोंको ही प्राप्य है। परन्तु हमारे उपास्य श्री-शचीनन्दन दानी शिरोमणि होनेके कारण दुर्बल, प्राकृतमदमत्त जीवोंके अपराधोंको दूर कर तथा उन्हें अनित्य नश्वर विचारोंके कठिन जालसे मुक्त कर परम दुर्लभ ब्रजेन्द्रनन्दनकी निगूढ़ सेवामें नियुक्त करनेमें ही सर्वदा प्रयत्नशील हैं।

भगवत्सेवोन्मुख जीवोंके प्रति श्रीगौर हरिके

उपदेश

श्रीगौरहरिने बद्धजीवोंको शिक्षा दी है कि उन्हें

असत् चरित्रके कपटी शिक्षकोंसे बचना चाहिये। उन्हें किसी प्रकार भी योपित्संग और योपित्संगी विषयीका न तो संग करना चाहिए और न उनका कोई परामर्श ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करे तो वह गौरभक्तोंके पादत्र आसनसे गिर कर अनन्त कालके लिये विषय समुद्रमें निमज्जित हो जायगा।

श्रीगौर-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व और श्रीवलदेव-तत्त्व

श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर और श्रीशचीनन्दन गौरसुन्दर अभिन्न हैं। इसलिये गौरसुन्दर परमाराध्य वस्तु हैं, वे समस्त ईश्वरोंके ईश्वर—परमेश्वर, सच्चिदानन्दविग्रह, अनादि, सबके आदि और समस्त कारणोंके कारण हैं। महाप्रभु कृष्ण ही अप्राकृत रसके एकमात्र, सर्वोत्कृष्ट विषय हैं; श्रीमती राधिका उनका अप्राकृत आश्रय हैं। बलदेव उस विषयके विस्तार, प्रकाश या वैभव हैं। विषय-वैभवसे ही परब्योममें और अप्राकृत तद्रूप वैभव-समूहमें प्राभव-प्रकाश वासुदेव आदि ऐश्वर्य-रसके विषय-विग्रह हैं। मूल-

आश्रय राधिकासे आश्रय-वैभव प्रज-वनिता-समूह, रेवती आदि प्रकाशःश्रयवृन्द, द्वारकादिमें महिषीवृन्द, वैकुण्ठमें लक्ष्मीगण, नैमित्तिक अवतारादिमें सीता आदि नित्य प्रकाशित हैं।

आश्रय भावसे गौरलीला और विषय-भावसे श्रीकृष्णलीलाका नित्यत्व

महामाधुरीके एकमात्र विषय सच्चिदानन्द-विप्रहृ यशोदानन्दन अपने नित्य आश्रय-विप्रहृ श्रीमती राधिकाकी सेवामयी चित्तवृत्तिको नित्यकाल ग्रहण कर गोलोकमें श्रीगौराङ्ग-रूपमें स्वतंत्र अधिष्ठानमें नित्य विराजमान रहकर नित्य लीला-विलास करते हैं। आश्रय भाव अङ्गीकार करने पर श्रीकृष्णकी गौरलीलाके अतिरिक्त कोई दूसरी नित्यलीला नहीं है। और विषय-भाव अङ्गीकार करने पर गौराङ्ग सुन्दरकी कृष्णलीलाके अतिरिक्त कोई दूसरी नित्य-लीला नहीं है। वे मधुर रसदाता महावदान्यके रूपमें श्रीरूपके निकट “नमो महावदान्य कृष्णप्रेम प्रदायते। कृष्णाय कृष्णचैतन्य-नाम्ने गौरस्विये नमः ॥” नित्य भजनीय हैं।

स्वयं महावदान्यावतार श्रीगौरहरि द्वारा गौर-नागरीवादका खण्डन

कुछ लोग भगवान् गौर सुन्दरको नागर सजा कर तथा अपनेको प्राकृत नागरी मान कर गौर भजनकी आड़में व्यभिचारका पोषण करते हैं। परन्तु महावदान्यावतार स्वयं श्रीगौरहरिने उसका निषेध किया है। कविराज गोस्वामीने उसे इस प्रकार लिखा है—

महाप्रभुर भक्तगणैर वैराग्य प्रधान ।
याहा देखि तुष्ट हन गौर भगवान् ॥
प्रभु कहे—वैरागी करे प्रकृति-संभाषण ।
देखिते ना पारि आनि ताहार वदन ॥
दुर्वार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण ।
दाह प्रकृति हरे मुनि-जनेर मन ॥

प्रभु कहे,—मोर वश नहे मोर मन ।
प्रकृतिसंभाषी वैरागी ना करे दर्शन ॥
सत्रे श्रीवास तार (लोटे हरिशास) वृत्तान्त कहिला ।
दैले संकल्प दैले त्रिविधी प्रवेशिला ॥
शुनि हासि प्रभु कहे सुप्रसन्न चित्त ।
प्रकृति दर्शन कैले पर्दे प्रायश्चित्त ॥
असरसंगत्याग,—पर्दे बैष्णव आचार ।
योपित्तलंगी—एक असाधु, कृष्णभक्त—धार ॥
भक्तवत्सल, कृतज्ञ, समर्थ, वदान्य ।
होन कृष्ण द्वादि पण्डित नाहि भजे अन्य ॥

श्रीरूप गोस्वामी द्वारा सहजिया और गौर-नागरीवादका खण्डन

जो लोग गौरभजनकी आड़में सहजिया, बाउल, चूड़ाधारी, गौरनागरी आदि मार्गों पर चलते हैं एवं शुद्धभक्तजनको अपने तरह जड़ीय समझ कर उन्हें गाली-मालीज करते हैं, वे कभी भी वदान्य नहीं कहे जा सकते हैं। वदान्य श्रीरूप गोस्वामीने निर्बोध नव्य-मतावलम्बी भावी बालकों और दलपतियोंके लिये ही रसशास्त्रकी रचना कर विषय और आश्रयका अति सहज और सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके ग्रन्थोंमें अवदान्य गौरनागरीजनोंका एक भी सिद्धान्त स्थान नहीं पा सका है। कोई भी गौरभक्त कपट भक्त होना नहीं चाहते। आश्रयभावको अंगीकारकारी कृष्णने अपनी गौरलीलामें जिस लीला को प्रकट नहीं किया है, उस मिथ्या या काल्पनिक नागरीभावको ग्रहण कर कपट भक्त सजनेकी आवश्यकता ही क्या है? कपट भक्त सज कर सुनिर्मल पवित्र चरित्र सम्पन्न गौराङ्गदेवमें व्यभिचारका आरोप करना अथवा अपने सिद्धान्तके अनुकूलमें कोई शास्त्रीय प्रमाण, सद्‌युक्ति या महाजन पथ न पाकर अपने को कृष्ण-विमुखिनी स्वैरिणी सजानेकी आवश्यकता ही क्या है? कोई भी वदान्य (उदार व्यक्ति) कपटताका आदर नहीं करता।

गौरनागरी-इलकी उत्पत्तिका कारण और शुद्ध गौर-भक्तोंका कर्तव्य

पाप करनेसे पापीका कोई प्रायश्चित्त नहीं है—महावदान्य गौरसुन्दरका यह कथन नहीं है। शुद्ध भक्तजन हरि-सेवामें विमुख होकर पाप नहीं करते। और पापका अनुमोदन भी नहीं करते। श्रीगौरसुन्दरने हरि-विमुखताकी शिक्षा देनेके लिये छिपकर नदीया-नागरीके साथ व्यभिचार नहीं किया है। रामचन्द्रखाँ द्वारा भेजी गयी विश्वानागरीके साथ गौर-पार्षद हरिदास ठाकुरने छिप कर व्यभिचार नहीं किया। साँ मीराबाई श्रीरूपगोस्वामी प्रभुकी नागरी नहीं थी। “अन्तःकृष्ण यहिगौरः” श्लोककी कुव्या-

स्याके आधारपर गौरनागरी नामक गौर विरोधी जीव गौराङ्गदेवको महावदान्य जगद्गुरु न मानकर अन्तर ही अन्तर व्यभिचारी कहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। “कृष्णलीला व्यभिचारमय है,—ऐसी भ्रान्त धारणा ही भोग-तात्पर्यपर गौरनागरियोंको पथ-भ्रष्ट कर गौर-विरोधी जीव बना डालती है। आशा है, वदान्य, शुद्ध गौरभक्त, कपट गौरभक्तोंको श्रीराधा-कृष्णकी अप्राकृत कथा सुनाकर भोग-तात्पर्यपर गौरनागरी इलके हृद्गत कामका विनाश करेंगे। ऐसा करनेवाले शुद्ध गौरभक्त सज्जनोंको ही वदान्य कहेंगे।

—ॐ विष्णु-नमः श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

भक्तितत्त्वविवेक-द्वितीय प्रबंध

भक्त्याभास-विवेक

बद्धस्वाभास-लेशोऽपि वदाति कलमृत्तमम् ।

तमानन्द-निधिं कृष्णचैतन्यं समुपास्महे ॥

हे अन्तरंग भक्तजन ! पिछले प्रबन्धमें भक्तिके स्वरूप और तटस्थ लक्षणका विवेचन किया गया है। वर्तमान प्रबंधमें ‘भक्त्याभास’ के सम्बन्धमें विचार करूँगा। भक्तिके तटस्थ लक्षणके प्रसंगमें ही भक्त्याभासका कुछ-कुछ विवेचन हो चुका है। ‘भक्त्याभास’ भक्तिके तटस्थ-लक्षणके अन्तर्गत तत्त्व है। परन्तु जहाँ भक्तिके स्वरूप और तटस्थ दोनों लक्षण निरूपित होते हैं, वहाँ भक्त्याभासका विशेष-रूपसे विवेचन नहीं होता। इसीलिये भक्त्याभासके विषयमें एक स्वतंत्र प्रबंध लिखना पड़ रहा है। आशा है, इस प्रबन्धसे पिछले प्रबन्धका विषय और भी स्पष्ट हो जायगा।

पहले कहा गया है कि अणुचैतन्य जीवकी पूर्ण-चैतन्य कृष्णके प्रति उपाधिरहिता स्वाभाविकी

चेष्टाया नाम भक्ति है। जीवकी अवस्था दो प्रकार की होती है—मुक्तावस्था और बद्धावस्था। मुक्तावस्थामें जीव स्वयं प्रकारके जड़ोय सम्बन्धसे मुक्त होकर स्व-स्वरूप अर्थात् शुद्ध चित्स्वरूपमें अवस्थित होता है। उस अवस्थामें कोई उपाधि नहीं होती। इसलिये उस अवस्थामें भक्तिके तटस्थ लक्षणकी कोई आवश्यकता नहीं होती। बद्धावस्थामें जीव अपना चित् स्वरूप भूल गये हैं। जड़ शरीर और स्थूल शरीरमें आत्मबुद्धिजन्य नया और विकृत स्वरूप आरोप कर लिये हैं। इसी अवस्थामें जीवकी उपाधि होती है। स्वच्छ काँच मल-शून्य रहने पर उसके भीतरसे समस्त वस्तुएँ दिखलायी पड़ती हैं। परन्तु वही काँच मलयुक्त होने पर उसकी स्वच्छता नहीं रहती। उसका स्वाभाविक गुण धूल-राशिसे आवृत हो जाता है। ऐसी दशामें यह कहा जायगा कि उस काँचकी एक उपाधि हुई है। जब कोई दूसरी वस्तु एक वस्तुके स्वभाव

को आच्छादित कर देती है, तब उस आच्छादनको उस आच्छादित वस्तुकी उपाधि कहते हैं। जड़-स्वभाव जीवके विशुद्ध चित्तस्वभावको आच्छादित करता है। वह आच्छादन—जड़-स्वभाव ही जीवकी उपाधि है। इसलिये श्रीमद्भागवत (११।२।३७) में कहा गया है—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्-
ईशादपेक्ष्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेतं
भक्त्यैकदेशं गुरुदेवतात्मा ॥

पूर्णचैतन्य-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके प्रति जीवकी भक्तिवृत्तिजनित स्वाभाविक अभिनिवेश ही जीवका नित्य धर्म है। परन्तु वही जीव जब ईशतत्त्व से वहिमुख हो जाता है, तब उसे भय उपस्थित हो जाता है। तथा उसको स्मृतिका विपर्यय हो जाता है। माया-शक्ति नामक भगवान् की एक अन्तर शक्ति है। उस शक्तिसे उत्पन्न इस जड़-जगत्को भगवान् से एक स्वतंत्र तत्त्व माननेसे दुर्भाग्यवत् जोड़का संसार हो गया है। परिणततन श्रीगुरुचरणश्रय कर उस ईशरूप परमदेवताको अनन्य-भक्ति द्वारा भजते हैं। उक्त श्लोक द्वारा यह स्थिर हुआ कि मायाभिनिवेश अर्थात् जड़ाशक्ति ही जीवकी उपाधि है। उपाधि युक्त अवस्था में जीवकी भक्ति सहज ही विकृत होकर भक्त्याभासके रूपमें परिणत हो जाती है। जो लोग शुद्ध भक्ति की अनन्य अभिलाषा रखते हैं, उन्हें भक्त्याभासका सम्पूर्ण रूपसे पार करके केवलाभक्ति का आश्रय लेना होगा। इसीलिये भक्त्याभासका हमने विस्तर पूर्वक विवेचन किया है। भक्त्याभासका यह विस्तारित विवेचन अतिशय रहस्यपूर्ण है, केवल अंतरंग भक्त-जनोंको ही इसे ब्रह्म करनेका अधिकार है। इनका कारण यह है कि जो लोग भक्त्याभासको ही भक्ति समझते हैं, उन्हें इस प्रबंधको पढ़कर बिना भाग्योदय हुए कभी भी प्रसन्नता न होगी। मुझे इस प्रबंध को अन्तरंग भक्तोंके बीच रख कर बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

श्रीमद्गुरु गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें

भक्त्याभासके सम्बन्धमें कोई पृथक् विवेचन नहीं किया है। "अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्मभावना-वृत्तम्" श्लोकके पूर्वार्द्धमें उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें गूढ़ रूपमें भक्त्याभासका सार्थांग विवेचन है। उन्होंने रति-तत्त्वकी आलोचनामें रत्याभासके वर्णनके स्थानमें भक्त्याभासका परिष्कार विवेचन किया है। मैं उक्त रसाचार्यके उन्हीं विचारोंके आवार पर 'भक्त्याभास'-विवेकके सम्बन्धमें यह प्रबन्ध लिख रहा हूँ। थोड़ेते उत्तम अधिकारमें अर्चित ही रतिके रूपमें परिलक्षित होती हैं, उस समय भक्त्याभास भक्तिको प्रागपस्यामें अवस्थित है—रेता विद्वान्तित होगा।

श्रीरूपगोस्वामीने कहा है—

प्रतिबिम्बस्वतया छाया रत्याभावो द्विवा मतः ॥

अतएव भक्त्याभास दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास और छाया भक्त्याभास। प्रतिबिम्ब और छायाका भेद यह है कि, प्रतिबिम्ब—वस्तुसे अत्यन्त पृथक् रहकर दूसरी वस्तुके बदले कालेय होता है और छाया—वस्तुको आश्रय कर उसके अति निकट से उस वस्तुके स्वरूपको किंचित रूपमें प्रकाश करता है। एक वृत्त जलमें प्रतिभात होने पर उस प्रतिभाको प्रतिबिम्ब कहते हैं। प्रतिबिम्ब उस वस्तुसे लगा हुआ नहीं होता। वस्तुकी सत्तामें ही प्रतिबिम्बकी सत्ता दीख पड़ती है, फिर भी उसे दूसरी वस्तु मानते हैं। उस वृत्तसे लगे हुए उस ही आकृतिके अतुरूप प्रतिबिम्बको छाया कहते हैं, जो प्रकाशके अवरोधके कारण पड़ती है। छाया वस्तुके नितान्त आश्रितरूपमें अपना परिचय देती है। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं—“तस्मान्निरुपाधित्वमेव रतेमुख्यस्वरूपत्वं सोपाधित्वमाभासत्वं तच्च गौण्या वृत्त्या प्रवर्तमानत्वमिति।” अर्थात् निरुपाधिता ही भक्तिका मुख्य स्वरूपत्व है तथा उपाधियुक्ता ही भक्तिका आभासत्व है। यह आभासत्व गौणी वृत्तिद्वारा उत्पन्न होता है। साक्षात् वृत्तिको मुख्यवृत्ति और व्यवधानयुक्त वृत्तिको गौणी वृत्ति कहते हैं। प्रतिबिम्ब और छाया दोनों ही गौणीवृत्ति द्वारा वर्तमान हैं। जड़ भक्ति मुख्यवृत्ति द्वारा परि-

चित होती है, तब प्रतिबिम्ब या छाया कुद्ध भी नहीं होती है। उस समय केवल वस्तु ही स्वयं प्रकाशित होती है।

प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास

पहले प्रतिबिम्ब-भक्ति-आभासका विवेचन किया जा रहा है। प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास तीन प्रकारका होता है—

- (१) निर्विशेष-ज्ञानावृत्त भक्त्याभास
- (२) यहिमुख कर्मावृत्त भक्त्याभास
- (३) विपरीत वस्तुमें भक्ति-बुद्धिजनित भक्त्याभास।

(१) निर्विशेष-ज्ञानावृत्त भक्त्याभासमें निर्विशेष ज्ञानावरण ही भक्तिकी गौरीवृत्तिके रूपमें व्यवधानके कारण लक्षित होता है। ऐसी दशामें जो भक्तिका आस्वादन करेंगे, उनके और स्वरूप-सिद्धा भक्तिके बीच निर्विशेष ज्ञानका एक व्यवधान पड़ जाता है। और तब साक्षात् या मुख्यावृत्ति द्वारा भक्तिका दर्शन संभव नहीं होता। निर्विशेष-ज्ञानका कहना यह है कि—'चित् तत्त्वमें विशेष नहीं है; केवल जब तत्त्वमें ही विशेष है; जीव जड़मुक्त होने पर एक निर्विशेष ब्रह्ममें लय हो जाता है।' जहाँ निर्विशेष ज्ञान है, वहाँ शुद्धा भक्तिका अभाव होता है। कृष्णानुशीलनको ही जब शुद्धा भक्ति माना गया है, तब निर्विशेष अवस्थामें भक्तिकी क्रिया असंभव है। यदि निर्विशेष अवस्था सिद्ध है, तब, संवेद्य, संवेदक और संवेदनके भेदके अभावमें कृष्ण ही कहाँ रहे, कृष्णदास जीव ही कहाँ रहे और भक्तिरूपा चेष्टा ही कहाँ रही? यदि कहो, चरमावस्थामें भक्ति न रहे, परन्तु इस समय कृष्णानुशीलनरूप भक्तिका आचरण करता हूँ; तो ऐसा माननेसे तुम्हारी यह कृष्णभक्ति कभी सरल और नित्य नहीं होगी। तुम तो मन-ही-मन ऐसा विचार रखते हो कि तुम कृष्णको संतुष्ट कर अन्तमें उनकी सत्ता लुप्त कर दोगे। तुम्हारी जो भक्ति दिखलाई पड़ती है, वह कपटपूर्ण और नितान्त कुटिल है। इसलिये नित्यसिद्धा भक्ति क्या

चीज है, तुम नहीं जानते। अतएव श्रीरूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में तुम्हारी भक्तिका यह लक्षण निरूपण किया है—

आश्रमाभीष्ट-निर्वाही रतिलक्षण लक्षितः।

भोगापवर्ग-सौख्यांश-व्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः ॥

अब तुम्हारे पुलकाशु आदि दो-एक लक्षणोंको देख कर ऐसा लगता है कि तुम्हें कृष्ण-रति हो गयी है। किन्तु—

किन्तु बाल-चमत्कार-कारी तस्मिद्ध बीजया।

अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः ॥

तुम्हारी जो रति हुई है, उसके (केवल बाहरी चिह्नोंको) को देखकर निर्बोध लोग ही प्रशंसा करते हैं, परन्तु विज्ञव्यथित उसे रत्याभास कहते हैं। तुम्हें जो पुलकाशु होता है, वह दो कारणोंसे होता है। पहला कारण यह है कि तुम्हें निर्विशेष गति रूप अपवर्ग अन्ध्या लगता है; उस अपवर्गके एकमात्र दाता-स्वरूप श्रीकृष्णको स्मरणकर तुम्हें अत्यन्त आनन्द होता है। उसी आनन्दतिरेकके द्वारा तुम्हें पुलकाशु हो रहा है, स्वाभाविकी कृष्ण-प्रीतिके कारण नहीं। जैसा भी हो, ऐसे भक्त्य भाससे अनायास ही तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो जायगी—ऐसा सोचकर ही तुम्हें बड़ा आनन्द हो रहा है। यही तुम्हारे पुलकाशुका दूसरा कारण है—

धामाणयो-निवासी करिष्यस्यं व्याहरन् हरेश्चरितम्।

यति-गोष्ठ्यामुत्पुलकः सिद्धति गच्छहृद्योमखैः ॥

देखो, वाराणसीका एक निर्विशेषवादी संन्यासी संन्यानियोंकी सभामें हरिका गुणगान करते-करते बार-बार पुलकित हो रहा है और उसकी आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा प्रवाहित हो रही है। श्रीहरिका गुण-गान करते समय संन्यासी यह सोच रहा है कि, अहा! कितने सरल उपायमें मैं निर्विशेष-गतिको प्राप्त हो रहा हूँ।

ऐसी अवस्थाका कारण बरसाते हुए श्रीरूप गोस्वामी कह रहे हैं—

दैवात् सद्भक्त-सङ्गेन कीर्त्तयानुयायिणाम् ।
 प्रायः प्रमत्त-मनसां भोग मोक्षदि-रागिणाम् ॥
 केशाञ्छिद्रं हि भावेन्द्रीः प्रतिबिम्ब उदञ्चति ।
 नक्त हृत्तमः-स्थस्य तव ससर्ग-प्रभावतः ॥

इस प्रकारका पुलकाश्रु होना भी निर्विशेषवादीके लिये सहज नहीं है: क्योंकि ज्ञान और वैराग्य चित्त-को कठोर बना देते हैं और सुकुमार स्वभाववाली भक्तिके समस्त लक्षणोंको दूर कर देते हैं। परन्तु निर्विशेषवादियोंके श्रवण और कीर्त्तन आदि क्रियाओं-में भोग और मोक्ष आदि कामना रूप व्याधि वर्त्तमान रहने पर भी श्रवण-कीर्त्तन आदिसे उनका चित्त कुछ-कुछ प्रसन्न होता है। उस समय सौभाग्यवश यदि शुद्ध भगवद्भक्तका सङ्ग मिल जाय तो उस सङ्गसे उनके हृदयाकाशमें उदित 'भाव' रूप चन्द्रके प्रतिबिम्ब-स्वरूप निर्विशेषभाव-रूपित हृदयमें भी एक ऐसी अवस्था होती है, जिससे कभी कभी थोड़ा-थोड़ा पुलकाश्रु हुआ करता है। पुनः जब सत्सङ्गका अभाव होता है, तब फिर वे शिष्योंके पुलकाश्रुको दृष्ट कर निन्दा करते हैं। अतएव निर्विशेष ज्ञानावृत्त-चित्तमें भक्तिका कदापि उदय नहीं होता। परन्तु कभी-कभी भक्त्याभासका उदय होता है।

(२) बहिर्मुख कर्मावृत्त भक्त्याभासमें बहिर्मुख कर्मावरण ही भक्तिकी गौणी वृत्तिद्वारा व्यवधानके रूपमें स्थापित होता है। आस्वादक और आन्वादन इन दोनोंके बीचमें बहिर्मुख कर्म-रूप एक आवरण पड़ जाता है। यह आवरण भक्तिके मुख्य स्वरूपको दूर फेंक देता है। वर्ण-धर्म, आभयधर्म और अष्टांग-योग—ये सभी कर्म हैं। कर्म दो प्रकारका होता है—नित्य और नैमित्तिक। समस्त पुण्य-जनक कर्म ही कर्म हैं। कर्मकी विशद विवेचना करनेसे ग्रन्थका कलेवर अत्यन्त बढ़ जाता है। अतएव जो लोग कर्म तत्त्वको विशेष रूपमें समझना चाहते हैं, ये श्रीचैतन्य-शिष्यामृतके प्रारम्भमें मेरे लिखे हुए कुछ पृष्ठोंको पढ़ेंगे। स्मार्त्त-परिहृतों द्वारा रचित पुस्तकोंमें कर्मकी व्यवस्था दी गयी है। वे समस्त कर्म बहिर्मुख हैं।

स्मार्त्तग्रन्थोंमें वर्णाश्रमोचितसन्ध्या-वन्दन आदिकर्मोंको नित्यकर्म कहा गया है। इन्हीं नित्यकर्मोंको स्मार्त्तजन कुछ कुछ भक्ति समझते हैं। विन्तु सूक्ष्म विवेचन करने पर ये कर्म-समूह भी बहिर्मुख कर्म प्रतीत होंगे। उनमें जो भक्तिके लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, वे केवल प्रतिबिम्ब-स्वरूप भक्त्याभास-भात्र हैं—व्यर्थ भक्ति नहीं। इसका कारण यह है कि इन कर्मोंका फल या तो अपवर्ग अर्थात् निर्विशेषमुक्ति है अथवा भोग अर्थात् लौकिक या पारलौकिक सुख-प्राप्ति है। कुछ लोग भक्ति-तत्त्वके श्रवण-कीर्त्तन आदि अङ्गोंको 'कर्म' और कर्माङ्गके श्रवण-कीर्त्तन आदि व्यवस्थाओंको 'भक्ति' समझते हैं। तत्त्व सम्बन्धी अज्ञानता ही ऐसे ऐसे अतत्त्विक सिद्धान्तों-की जननी है। कर्म और साधनभक्तिमें बाह्यतः बहुत कुछ समानता होने पर भी दोनोंमें एक बहुत बड़ा मौलिक भेद है। मनुष्यके लौकिक या पारलौकिक किसी भी स्थूल सुख लाभके उद्देश्यसे जो कुछ भी किया जाय उसे कर्म कहते हैं। वह सुख दो रूपोंमें परिलक्षित होता है—या तो भोगके रूपमें और नहीं तो निर्विशेष मोक्षके रूपमें।

भक्ति किसे कहते हैं? जो कुछ किया जाय, यह इस भावनासे श्रोतप्रोत होकर किया जाय कि उससे केवल स्वाभाविकी कृष्ण-रतिकी ही समृद्धि होगी; इसके अतिरिक्त उससे कुछ भी लाभ करनेकी आकांक्षा नहीं होती। कुछ आवान्तर फल पाये जाने पर भी वे फल नितान्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। जिन जिन कार्योंसे शुद्ध भक्तिकी पोषकता होती है, वे कार्य भी भक्ति ही हैं। क्योंकि भक्ति ही भक्तिकी जननी है। ज्ञान या कर्म भक्तिको पैदा करनेमें कदापि समर्थ नहीं हैं। हे अन्तरंग भक्तजन! कर्मजड़ व्यक्तियोंको यह सूक्ष्म प्रवेद दिखलाकर आपलोग कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। राशि-राशि पुण्य-संचय तथा सत्संगके प्रभावसे जब उनके कर्म और ज्ञानकी श्रद्धा दूर हो जाती है, तभी भक्तिके प्रागभावरूप भक्ति-बीजरूपा श्रद्धा उदित होती है। इस श्रद्धाके न होने तक कोई भी कर्म और भक्तिका

प्रभेद नहीं समझ सकता है। जिनकी ऐसी धारणा है कि भक्ति भी कर्मरूपा है, वे शुद्ध भक्तिका चिन्मय भाव कभी भी हृदयमें आस्वादन नहीं कर सके हैं—ऐसा समझना चाहिए। तिवत् और मधुरका प्रभेद केवल आस्वादन द्वारा ही समझा जा सकता है—विचार द्वारा नहीं। परन्तु आस्वादनके पश्चात् विचार करने पर वह प्रभेद अत्यन्त आसानी और उत्तमतासे समझा जा सकता है। कर्ममें आप्रह रक्षने वाले हरिनाम आदि करते-करते जो नृत्य करते हैं, आँसू बहाते हैं या पुलकित होते हैं, वह सब कुछ पूर्वोक्त सौभाग्यवश “सत्-भक्त-सङ्गेन” इत्यादि श्लोकमें वर्णित प्रतिबिम्ब भक्ति है, शुद्ध भक्ति नहीं। उनका पुलकाश्रु केवल “भोग-सौख्यांश-उप्यञ्जक” प्रतिबिम्ब-मात्र है। उस समय वे या तो स्वर्ग-सुखकी चिन्तामें विभोर रहते हैं अथवा मोक्ष-सुखके कल्पित आनन्द-सागरमें निमग्न होते हैं। यही प्रतिबिम्ब भक्त्याभास है।

(३) वर्तमान कालमें प्रचलित पंचोपासना और योगमार्गके ईश्वर-प्रणिधानमें हम विपरीत तत्त्वोंमें भक्ति बुद्धि जनित भक्त्याभासको सृज ही लक्ष्य कर सकते हैं। आजकाल जिसे पंचोपासना कहते हैं उसमें पाँच सम्प्रदायोंकी कल्पना की गयी है—शैव, शाक्त, गानपत्य, सौर और वैष्णव। ये पाँचों निर्विशेष ज्ञानके अनुगत हैं। इस पंचोपासनामें जिस वैष्णव सम्प्रदायका उल्लेख है, वह भक्ति-तत्त्व-सम्मत वैष्णव-सम्प्रदाय नहीं है। भक्तितत्त्व-सम्मत जो चार वैष्णव सम्प्रदाय हैं, वे पंचोपासक सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं हैं। श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य, श्री विष्णुस्वामी, और श्रीनिम्बादित्य—ये चारों चार शुद्धभक्ति सम्प्रदायके आचार्य हैं—

‘श्रीब्रह्म-रुद्र-सनकाश्चत्वारः सम्प्रदायिनः।’

इन्हीं चारों सम्प्रदायोंको लक्ष्य करके ही शास्त्रमें यह कहा गया है—

‘सम्प्रदाय विहीना ये मंत्रास्ते निष्फला मताः।’

पंचोपासक वैष्णव वस्तुतः निर्विशेषवादी हैं,

शुद्धभक्त नहीं। सारे पंचोपासक यह स्वीकार करते हैं कि उनके पाँचों उपास्य देवताओंकी मूर्तियाँ कल्पित हैं। उनके मतानुसार उपासना सिद्ध होने पर अन्तमें निर्विशेष ब्राह्म ही प्राप्त होता है। उन कल्पित मूर्तियोंको ईश्वर मानकर उनके प्रति जो भक्तिकी जाती है, वह भक्ति नित्य नहीं है। वस्तुतः वह ज्ञानावृत भक्त्याभासमात्र है। ज्ञानावृत भक्त्याभासको भक्ति माननेसे कभी भी शुद्धाभक्ति नहीं हो सकती है। यदि उक्त भक्त्याभास अनुष्ठानकारीमें भक्ति लक्ष्णात्मक अश्रु या पुलक दिखलाई पड़े, तो उसे केवल ‘भोगापवर्ग-सौख्यांशव्यञ्जक प्रतिबिम्ब’ ही समझना चाहिए। पंचोपासकोंको जिस प्रकारसे कल्पित देव मूर्तियोंके प्रति भक्त्याभास मात्र होता है, योगियोंको भी उसी प्रकार विराट् या हिरण्यगर्भरूप कल्पित मूर्तिके अवलम्बनसे पुलकाश्रु होता है। ये सभी प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास हैं। प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास उन्नत होकर एक न एक दिन शुद्ध भक्ति का रूप धारण कर लेगा—ऐसी धारणा सर्वथा भ्रान्त है। क्योंकि उसमें जो कर्मजड़ता और निर्विशेष चिन्ता है, उसे परित्याग करनेसे उस तत्त्वकी सत्ता लुप्त हो जाती है। नये सिरसे अपनी चित्तवृत्तिका पूर्णरूपेण संस्कार नहीं करनेसे उनका कल्याण होना असंभव है। सनक, सनातन आदि निर्विशेषवादी एवं परम ज्ञानी शुकदेव जिस समय अपने-अपने पूर्व धर्मोंका सम्पूर्णरूपसे त्याग कर भक्तिमार्गमें प्रवेश किये, तभी उनका नया जीवन प्रारम्भ हुआ। उसी नवजीवनके बलसे उन्होंने हमारे आचार्यकी पदवी प्राप्त की है। प्रतिबिम्ब भक्त्याभासके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

विमुक्ताखिल-सर्षेयां मुवतैरपि विमृश्यते।

या कृष्येनातिगोप्याशु भजद्भ्योऽपि न दीयते ॥

ता भुक्ति मुक्ति कामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम्।

हृदये संभवत्येषां कथं भागवती रतिः ॥

समस्त प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त जीव जिसे अन्वेषण करते हैं और भगवान् श्रीकृष्ण भजनशील

व्यक्तियोंको भी जिसे सहज ही प्रदान नहीं करते, वह भागवती-रति भुक्ति और मुक्तिकामियोंके हृदय में कैसे उत्पन्न हो सकती है? यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि योपित-संग और मादक द्रव्योंके सेवनसे जो औपाधिक सुख प्राप्त होता है, उसे जो लोग भागवती रति मानते हैं, वे स्वयं भ्रष्ट हैं और जगत्को भी भ्रष्ट करते हैं।

छाया-भक्त्याभास

अथ 'छाया'—भक्त्याभासका विवेचन होना आवश्यक है। प्रतिबिम्ब-भक्त्याभासकी तरह छाया-भक्त्याभास कुटिल और धूर्ततापूर्ण नहीं होता। इसमें सरलता और सदाग्रह होती है। छाया-भक्त्याभासके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीने इस प्रकार लिखा है—

छुद्र कौतूहलमयी चञ्चला दुःख-हारिणी ।
रतेश्छाया भवेत् किञ्चित् तस्मादश्यावलम्बिनी ॥
हरिप्रिय -किया-काल--देश-पात्रादि-सङ्गमात् ।
अप्यानुपङ्गिकादेशा क्वचिदज्ञेष्वपीक्ष्यते ॥
किन्तु भाग्यं विना नासौ भावच्छायाप्युत्पत्ति ।
यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्वादूतरोत्तरम् ॥
हरि-प्रियजनस्यैव प्रसादभर लाभतः ।
भावाभासोऽपि सहसा भावस्वमुपगच्छति ॥
तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः ।
कमेण लयमाप्नोति स्वस्तः पूर्णशरी यथा ॥

छाया-भक्त्याभास और शुद्ध भक्तिमें कुछ-कुछ सौसादृश्य हैं। किन्तु छायाभक्त्या भास स्वभावतः छुद्र कौतूहलमय, चञ्चल, और दुःखहारी होता है। भगवान्के प्रिय कार्य, प्रिय काल, प्रिय देश और प्रियपात्र आदिके संग-प्रभावसे, कहीं कहीं केवल मात्र भगवत् संबंधका अबलम्बन करनेसे स्वरूप तत्त्वज्ञानसे रहित व्यक्तियोंमें भी वह लक्षित होता है। साम्प्रदायिक हो, अथवा पञ्चोपासक हो, अत्यन्त भाग्योदय हुए बिना किसीको भी भावच्छाया प्राप्त नहीं होती। क्योंकि जितने भी छुद्र परिणाममें क्यों न हो भावच्छाया एक बार उदित होने पर उत्तरोत्तर वह वृद्धि ही प्राप्त होती है और साधकका

उत्तरोत्तर कल्याण होता जाता है। शुद्धवैष्णवोंकी कृपा प्राप्त होनेपर भावाभास भी सहसा भावके रूपमें उन्नत हो पड़ता है। दूसरी तरफ शुद्धवैष्णवोंके प्रति अपराध होने पर जैसे चन्द्र कृष्णपक्षमें क्रमशः क्षय प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार उन्नत भावाभास भी क्षय हो जाता है। 'छाया' भक्त्याभास दो प्रकारका होता है।

(१) स्वरूप-ज्ञानाभाव जनित भक्त्याभास

(२) भक्त्युद्दीपक वस्तुशक्ति-जनित भक्त्याभास।

(१) साधक, साधन और साध्य, इनका स्वरूप-ज्ञान शुद्धभक्तिके स्वरूपसे अभिन्न है। इस स्वरूप ज्ञानका उदय नहीं हुआ है, किन्तु संसार-समुद्रको पार होनेकी वासना मात्र उत्पन्न हुई है, ऐसी दशामें जो भक्तिका लक्षण देखा जाता है, वह स्वरूपज्ञानके अभावमें भक्त्याभास है। स्वरूप ज्ञान होनेके साथ-साथ वह भक्त्याभास शुद्धाभक्ति हो पड़ता है। साम्प्रदायिक वैष्णवजन भी जब तक शिक्षागुरुकी कृपासे स्वरूप-ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तबतक दीक्षा-गुरु द्वारा दी हुई वस्तु-प्रभा उदित नहीं होती। अतः स्वरूप ज्ञानके अभावमें स्वरूप-सिद्धा भक्तिके आच्छादित रहनेके कारण भक्त्याभास ही लक्षित होता है। जो सब पंचोपासक निर्विशेषवादकी शिक्षा नहीं पाये हैं और अपनी इष्टमूर्तिको परमार्थ मानकर अर्थान् भगवद् वैभव मानकर उपासना करते हैं, उनकी भक्ति भी छाया-भक्त्याभास है। तथापि साम्प्रदायिक वैष्णव और पंचोपासक वैष्णवोंमें बहुत कुछ भेद है। साम्प्रदायिक वैष्णवकी सविशेष वस्तुनिष्ठा पंचोपासकोंसे कहीं अधिक बढ़कर होती है। तत्त्वकी शिक्षा लाभकर एक साम्प्रदायिक वैष्णवको जितनी शुद्ध वैष्णवता प्राप्त होने की आशा होती है, पंचोपासकको अपनी प्रयानुसार तत्त्व-शिक्षा लाभकर शुद्ध-वैष्णवता प्राप्त करनेकी उतनी आशा नहीं रहती। विशेषतः पंचोपासकोंके लिये साधुसंग प्राप्त करना जितना कठिन है, साम्प्रदायिक वैष्णवोंके लिये उतना नहीं है। किन्तु यदि सौभाग्यवश पंचोपासकको

सत्संग मिल जाय और निर्विशेषवादियोंका संग न हो, तब वह साम्प्रदायिक मतसे पुनः संस्कृत होकर शुद्ध भक्तिया अन्वेषण कर सकता है। भक्ति-संदर्भमें उद्धृत किये गये दो शास्त्रीय प्रमाणोंको यहाँ उद्धार कर रहा हूँ। स्कन्दपुराणमें साम्प्रदायिक वैष्णवके छाया-भक्त्याभाससे भी इन्द्रित फलकी प्राप्ति की बात कही गयी है। श्रीमहादेवजी कहते हैं—

दीक्षामाश्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं लभन्ते वै ।

किं पुनर्थे सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं नराः ॥

और वे पंचोपासक जिनमें 'प्रतिबिम्ब' भक्त्याभास नहीं हुआ है, किन्तु 'छाया'-भक्त्याभासका उदय हो गया है, उनके सम्वन्धमें आदि-वराह पुराणमें इस प्रकार कहा गया है—

जमान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषभ्वजम् ।

वैष्णवस्य लभेद्दीमान् सर्वपापघने सति ॥

शास्त्र-सिद्धान्त यह है कि शाक्त लोग क्रमशः सौरत्व, सौरजन क्रमशः गाणपत्य, गाणपतिके उपासक क्रमशः शैवत्व और शैवगण क्रमशः पंचोपासनाके अन्तर्गत वैष्णवत्व तथा पंचोपासक वैष्णवगण क्रमशः साम्प्रदायिक वैष्णवत्व एवं सभी क्रमशः सात्वतत्व या निर्गुण भक्ति लाभ करते हैं। शास्त्र-वाणियोंके अनुशीलनसे यह प्रतीत होता है कि छाया-भक्त्याभास सत्संगके प्रभावसे क्रमशः शुद्धा-भक्तिके रूपमें प्रस्तुत होती है।

(२) भक्त्युद्दीपक वस्तुशक्ति जनित भक्त्याभासके उदाहरण शास्त्रोंमें सर्वत्र भरे पड़े हैं। तुलसी, महा-प्रसाद, वैष्णव-पदधूलि, वैष्णव प्रसाद, एकादशी, श्रीमूर्ति, क्षेत्र, गङ्गा, जयन्ती-तिथि आदि अनेक भक्त्युद्दीपक वस्तुएँ हैं। अज्ञानतावश भी इन वस्तुओंके संयोगसे जीवोंका कहीं-कहीं प्रचुर कल्याण होता है। कहीं-कहीं तो अपराधके रूपमें उनसे संयोग होने पर भी वैसा ही फल प्राप्त होता है। वैसा संयोग भी भक्त्याभास है। ॐ भक्त्याभासका ऐसा अद्भुत फल देख कर भी भक्तजन कभी आश्चर्य न करेंगे।

ये समस्त फल शुद्धाभक्तिके असीम प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञान या योगका अनुष्ठान यदि शुद्धरूपमें न किया जाय और यदि उन्हें भक्त्याभासकी सहायता न प्राप्त हो तो, ज्ञान या योग कोई भी फल देनेमें समर्थ नहीं है। परन्तु भक्तिदेवी सर्वदा स्वतंत्र हैं। चाहे जो हो और जिस किसी अभिलाषासे क्यों न हो भक्तिदेवीका अवलम्बन करनेसे उसकी सभी मनोकामनाएँ वे पूर्णकर देती हैं। यद्यपि वे समस्त फल भक्त्याभासमें दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि भक्त्याभासके आचरणको कर्त्तव्य नहीं बतलाया गया है। शुद्धा-भक्तिका ही आचरण करना कर्त्तव्य है। जो लोग सम्पूर्ण मंगल प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें किसीभी दशामें 'प्रतिबिम्ब'-भक्त्याभासको हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिए तथा शुद्ध वैष्णवोंके आश्रयमें रहकर भजनके बलसे 'छाया'-भक्त्याभासको अतिक्रम कर शुद्धाभक्तिदेवीके चरणकमलों में आश्रय लेना चाहिए। अतः आपलोग अनुग्रह-पूर्वक विश्व-वैष्णवदासके केवल इस सिद्धान्तको ग्रहण करें—

प्रतिबिम्बस्तथा छाया भेदात्तत्त्व-विचारतः ।

भक्त्याभासो द्विधा लोऽपि वर्जनीय रसाधिभिः ॥

जो भक्तिरसका आस्वादन करना चाहते हैं, उन्हें दोनों प्रकारके भक्त्याभासोंसे सर्वदा दूर रहना चाहिए। तत्त्व-विवेचनसे यह स्थिर हुआ कि भक्त्याभास दो प्रकारके हैं, अर्थात् प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास और छाया-भक्त्याभास। प्रतिबिम्ब भक्त्याभास जीवके लिए अपराध है। छाया-भक्त्याभास जीवके लिये असम्पूर्णता है। शुद्धाभक्ति ही जीव के लिये आदरणीय है। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

भक्तिके प्रति अपराध

यह एक भयंकर बात है। हमलोग अनेक प्रकारसे भक्तिका अनुष्ठान करते हैं। साम्प्रदायिक ब्राह्मण-गुरुके निकट मंत्र ग्रहण करते हैं। प्रतिदिन द्वादश

अ'गोंमें द्वादश तिलक धारण कर श्रीकृष्णका अर्चन करते हैं। एकादशी तिथिका भी पालन करते हैं। शक्तिके अनुसार नाम-स्मरण करते हैं। श्रीचून्दावन आदि स्थानोंका दर्शन करते हैं। परन्तु दुर्भाग्यकी बात यह है कि हम इस बातके लिये प्रयत्न नहीं करते कि भक्तिदेवीके प्रति हमारा अपराध न हो। श्रीमन् महाप्रभुने 'मुकुन्द' को लक्ष्यकर भक्तजनोंसे श्रीभक्ति-देवीके प्रति अपराधका लक्षण कहा है—

ष्ये दन्ते तृण जय, ष्ये जाठी मारे ।
ओ लक्ष्जाठिया—बेटा ना देखिवे मारे ॥
प्रभु बोले,—“ओ बेटा जखन यथा जाय ।
सेई मत कथा कहि तथाय मिशाय ॥
वाशिष्ठ पदये जवे अहैतरे सज्ञे ।
भक्तियोगे नाचे गाय तृण करि दन्ते ॥
अन्य सम्प्रदाये गिया जखन साम्नाय ।
नाहि माने भक्ति जाठि मारये सदाय ॥
भक्तिस्थाने उहार हइल अपराध ।
एतेके उदार हैल दरसन-पाध ॥

[श्रीचैतन्य भागवत]

[अर्थात् महाप्रभु कहते हैं—‘मैं मुकुन्द पर कभी कृपा नहीं कर सकता। क्योंकि वह कभी दाँतों तले तिनका दबाकर अपनी दीनता प्रकाश करता है और कभी मुझपर आक्रमण करता है। अर्थात् उसका एक हाथ मेरे पैरों पर और दूसरा हाथ मेरे गले पर रहता है। अपनी सुविधा देख कर कभी तो मेरे अनुगत होता है और कभी मेरी निन्दा करता है। अतः उसको वर नहीं दिया जा सकता है। वह जब जहाँ पर जाता है, वहाँ अपनी सुविधाके अनुसार वैसा ही अपना परिचय देकर उनमें दुल-मिल जाता है। कभी वह अद्वैतके साथ योगवाशिष्ठ नामक ग्रन्थका पाठ कर मायावादका समर्थन करता है और कभी मायावाद छोड़कर कृष्णभक्तिका अनुशीलन करनेके लिये वैश्य दिखलाता है तथा दीन-हीन बनकर नृत्य करता है, कीर्तन करता है। जब वह मायावादियोंके सम्प्रदायमें जाता है, तब भक्तिकी नित्यता अस्वीकार कर भक्त-

जनों पर तर्करूप अस्त्रोंका प्रहार करता है। इस प्रकार उसका भक्तिदेवीके चरणोंमें अपराध हुआ है। अतः मैं उसे दर्शन नहीं दे सकता।]

मुकुन्ददत्त एक भगवत् पार्षद हैं। अतएव उनके तन्वन्धमें जो कुछ महाप्रभुने कहा है वह केवल कौतुक मात्र है। परन्तु महाप्रभुके हृदयका भाव अति-शय गंभीर है। अतः उनके कथनका कोई न कोई अतिशय गूढ़ रहस्य है। उनका गूढ़ उपदेश यह है कि केवल दीक्षा आदि ग्रहणकर भक्त्यागोंका अनुष्ठान करने से ही कृष्ण प्रसन्न नहीं होते। जिनकी अनन्य भक्तिके प्रति अनन्य श्रद्धा है, वे ही प्रभुको सन्तुष्ट कर सकते हैं। जिनको वैसी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, वे शुद्धभक्तिका पक्ष दृढ़तासे ग्रहण करते हैं। जहाँ शुद्धका कोई प्रसंग नहीं होता, वहाँ वे जाते नहीं हैं; वहाँ वे उठते-बैठते नहीं हैं। जहाँ शुद्धभक्तिका प्रसंग चलता है, वही पर वे रुचिपूर्वक बैठते हैं तथा उसका भगव करते हैं। सरलता, दृढ़ता और ऐकान्तिकता ही शुद्धभक्तोंका स्वभाव होता है। वे लोकरंजनके लिये कभी भी भक्तिविरुद्ध बातों या कार्योंका अनु-मोदन नहीं करते। शुद्धभवतजन सर्वदा निरपेक्ष रहते हैं।

आजकल अधिकांश लोग ऐसे-ऐसे अपराधोंसे डरते नहीं हैं। भक्त देखते ही उनको अभ्रु और पुलक होते हैं। कभी कभी कथा-श्रवण करते ही दशाको प्राप्त हो जाते हैं। आध्यात्मिक सभाओंमें आध्यात्मिक मतका पोषण करते हैं। पुनः विषय-सुखके लिये नितान्त उन्मत्तकी तरह प्रयास करते भी देखे जाते हैं। अतः हे पाठकवर्ग ! ऐसे लोगोंकी निष्ठाको क्या कहा जाय ? हम तो ऐसा समझते हैं कि ये लोग प्रतिष्ठा लाभ करनेके लिये ही भक्तोंके निकट भक्तिभावका लक्षण दिखलाया करते हैं। कहीं प्रतिष्ठा अर्जन के लोभसे और कहीं किसी दूसरे पार्थिक लाभके लोभसे इसप्रकार बहुरूपी व्यवहार करते हैं। दुःखकी बात है कि ये लोग जगन्को ऐसे-ऐसे व्यवहारोंकी शिक्षा देकर भक्तिदेवीके प्रति

अपराध तो करते ही है अतिक्रम रूपमें जगत्के जीवोंका सर्वनाश भी करते हैं ।

पाठकवर्ग ! हमें सावधान होना चाहिए । हमें ऐसा करना चाहिये, जिससे भक्तिदेवीके प्रति अपराध न हो । सबसे पहले यह प्रतिज्ञा करें कि हम निरपेक्ष होकर भक्तिका आचरण करेंगे । लोक-रंजन या लोक-संग्रहके लिये हम भक्ति-प्रतिकूल न तो कोई आचरण करेंगे और न कोई भक्ति प्रतिकूल चर्चा ही

करेंगे । सभी कार्योंमें सरल रहेंगे । हृदयमें एक और करणीमें और—ऐसा व्यवहार न करेंगे । भक्तिके प्रतिकूल पक्षके लोगोंको कोई कृत्रिम लक्षण दिखला कर प्रतिष्ठा पानेके लिये यत्न न करेंगे । शुद्धा-भक्ति का ही पक्षपात करेंगे । दूसरे किसी भी सिद्धान्तका पक्ष समर्थन न करेंगे । हमारा हृदय और व्यवहार एक रहेगा ।

—उद्विष्टपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

अचिन्त्यभेदाभेद

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ४, संख्या ६, पृष्ठ १३३ से आगे]

नाथ महाशय एक सम्प्रदायको 'भेदवादी' और दूसरेको 'अचिन्त्यभेदाभेदवादी' बतलाकर इन दो वाक्यों द्वारा ही ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धी उन दोनोंके विचारोंमें विराट मतभेद निरूपण कर निरुत्तर हुए हैं । उन्होंने जिन सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशय का पदाङ्कानुसरण कर गौड़ीय और माध्व सम्प्रदायमें भेद निरूपण किया है, उन विद्याविनोद महाशयने 'अचिन्त्यभेदाभेद'-शब्दका जो अर्थ लिखा है, उसे यहाँ उद्धार कर नाथ महाशयकी उक्तिकी असारता दिखला रहा हूँ । विद्याविनोद महाशय कहते हैं—

“श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचरणानुचर श्रीगोस्वामियोंने भी अचिन्त्य द्वैत-अद्वैत-सिद्धान्तका प्रचारकर 'अद्वैत सिद्धान्तको ही प्रतिष्ठित किया है ।” (क)

यहाँ वक्तव्य यह है कि गौड़ीय गोस्वामीचन्द्र अचिन्त्यभेदाभेद द्वारा अद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन किये हैं—यदि ऐसी मुक्तिको मान लिया जाय तो गौड़ीय सम्प्रदायके गोस्वामियोंको अद्वैतवादी शंकर सम्प्रदायके अन्तर्गत मानना पड़ेगा । परन्तु गौड़ीय वैष्णव इसे कदापि स्वीकार नहीं करते या कर सकते हैं । दूसरी तरफ हम इसे स्पष्ट रूपसे

प्रमाणित करेंगे कि मध्वके भेदवाद और गौड़ीयोंके अचिन्त्यभेदाभेदमें लेशमात्र भी पार्थक्य नहीं है । केवल यही नहीं, हम यह भी दिखलायेंगे कि मध्वके 'भेद'-वादके अन्तरालमें ब्रह्मके साथ जीव और जगत्के सम्बन्धके विषयमें 'अचिन्त्याभेदाभेद'-विचार ही सुस्पष्ट है तथा श्रीजीवचरणके अचिन्त्यभेदाभेदके अन्तर्निहित सिद्धान्तका विवेचन करनेसे मध्वका भेद या द्वैत-सिद्धान्त ही प्रकाशित होता है—अद्वैत सिद्धान्त नहीं ।

जान पड़ता है, नाथ महाशयने श्रीमध्वके दार्शनिक ग्रन्थोंका अधिक अध्ययन नहीं किया है अथवा अध्ययन करने पर भी निरपेक्ष दृष्टिके अभावमें उनकी समालोचनामें ठीक-ठीक विचारोंका समावेश नहीं हो पाया है । उनके 'गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन' नामक ग्रन्थमें मध्वाचार्यके नाम अथवा उनके विचार या प्रमाण-समूहोंको बहुत ही छल्प स्थानोंमें उद्धृत किया गया है या लिया गया है । उनके १६०० पृष्ठोंके विराट ग्रन्थमें आचार्य शंकर और रामानुजके विचार ही परिस्फुट हैं । वैष्णव सिद्धांत और शंकरके विचारोंमें तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते समय भी उन्हां-

(क) १३ आवृत्ति, १३६० बङ्गाब्दमें प्रकाशित "गौड़ीयार तीन ठाकुर" नवम माधुरी, पृष्ठ ४४३ ।

ने रामानुजके मतको ही अपने मतकी पोषकतामें अङ्गीकार किया है। उनके ग्रन्थमें श्रीजीव गोस्वामी और श्रीचलदेव प्रभु आदिके विचार इतने थोड़े लिये गये हैं कि, वह उल्लेख योग्य नहीं है। मध्वके सिद्धान्तों या विचारोंकी बात तो अलग रहे, यहाँ तक कि शंकर मतके खण्डन-प्रसंगमें भी जहाँ मध्व, जीवपाद या चलदेवकी युक्ति सबसे सुन्दर और चमत्कार-पूर्ण हैं, वहाँ भी उन्होंने उक्त आचार्योंके बदले श्रीरामानुजकी युक्तियों या सिद्धान्तोंको ही ग्रहण किया है। नाथ महाशयका यही वैशिष्ट्य है।

नाथ महाशयके विचारसे सम्प्रदाय-भेदका मूल कारण—ब्रह्म, जीव और जगत्के विचारोंका वैषम्य होना है। वास्तवमें हमलोग इस विषयमें उनसे एकमत नहीं हो सके। ब्रह्म, जीव और जगत्के सम्बन्धमें वैष्णव आचार्योंमें थोड़ा या बहुत साम्य ही दीख पड़ता है। इस बातको नाथ महाशयने अनेक क्षेत्रोंमें स्वीकार किया है। अतएव इस विषयमें मध्वके साथ गौड़ीयोंका कोई भेद नहीं है, इसे हम भी प्रसङ्ग आने पर दिखलायेंगे। साधारण मतभेद ही सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं है। 'उपास्य—विद्युगु, उपासना—भक्ति, एवं प्रयोजन—मुक्ति या सेवा'—इन तीन तत्त्वोंके सम्बन्धमें चारों सम्प्रदायके वैष्णवोंमें छोटे-मोटे (पार्थक्य) मतभेद रहने पर भी मूलतः इन्हें पार्थक्य नहीं कहा जा सकता है, वे सभी एक ही सादृश्य धर्म युक्त हैं। उपास्य-तत्त्वके भेदके अथवा परतत्त्वकी उत्कर्षताके तारतम्यके आधार पर ही वैष्णवोंमें सम्प्रदाय-भेदकी सृष्टि हुई है। साध्य, साधन और साधक तत्त्वोंके विषयमें भी तारतम्य विद्यमान रहने पर उसे कहीं वही सम्प्रदाय-तारतम्यका कारण माना जाता है। इसे प्रसङ्गानुसार दिखलाया जायगा। वास्तवमें परतत्त्व या उपास्य तत्त्वकी अनुभूतिका तारतम्य ही सम्प्रदाय-तारतम्यका मूल कारण है। और जिन्होंने उपास्य तत्त्वकी जितनी ही उत्कर्षता दिखलायी है, उन्होंने उतनी ही श्रेष्ठता पायी है। जीव अपने-अपने अधिकारके अनुसार उन-

उन साम्प्रदायिक आचार्योंका आश्रय लेकर अपना-अपना प्रयोजन लाभ किया करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभुका आत्म-विक्रय

'महाप्रभुने श्रीमन्मध्वाचार्यका सम्प्रदाय क्यों स्वीकार किया?'—विद्याविनोद महाशयके इस प्रश्नके उत्तरमें मैं उनको श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्य लीला, १५वाँ परिच्छेद विशेष रूपसे अनुशीलन करनेके लिये कहूँगा। उसमें वे देख पायेंगे कि श्रीमन्महाप्रभुने श्रीपुरुपोत्तम-क्षेत्रमें कुलीनग्रामवासी सत्यराज खाँ और रामानन्द वसु आदि वैष्णवोंको अत्यधिक सम्भ्रमपूर्ण शब्दोंमें कहा था—

कुलीनग्राम-वासीरे कहें सम्मान करिया ।
प्रथमद अस्मिन्ने यात्राय पद डोरी लजा ॥
'गुनराज-खान' कौल 'श्रीकृष्ण-विजय'
ताहाँ एक वाक्य तौर-आड़े प्रेनमय ॥
नन्दनन्दन कृष्ण—'मोर प्राणनाथ ।'
एइ वाक्ये चिकाइनु तौर वंशेर हाथ ॥
तोमार कि कथा तोमार ग्रामेर कुकुर ।
सेइ मोर प्रिय, अम्यजन रहु दूर ॥
(चै. च. म. ११।६८-१०१)

श्रील कविराज गोस्वामीने इन थोड़ेसे शब्दोंमें ही श्रीमन्महाप्रभुके हृदयके गुह्यतम भावको प्रकाशित किया है। 'गुनराज खाँ' नामक जनैक वैष्णवने 'श्रीकृष्ण-विजय' नामक एक कविता-ग्रन्थकी बङ्गला भाषामें रचना की है। उस ग्रन्थमें "नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मोर प्राणनाथ"—ऐसा एक वाक्य लिखा हुआ देखकर अत्यन्त मुग्ध होकर—"तारवंशे चिकाइनु हात"—ऐसा कहते हुए आत्म-विक्रय तक कर डालते हैं। केवल यही नहीं, वे उनके पुत्र श्रील सत्यराज खाँ तथा पौत्र श्रील रामानन्द वसु से कहते हैं कि तुम लोगोंकी तो बात ही क्या और तुम्हारे गाँवके लोगोंकी तो बात ही अलग रहे, वहाँके कुत्ते भी मेरे बड़े प्रिय हैं।

उक्त 'श्रीकृष्ण-विजय' ग्रन्थ श्रीमन्महाप्रभुके आविर्भावके दो वर्ष पूर्वका लिखा हुआ है। श्रीठाकुर

भक्ति विनोदने लिखा है,—यह ग्रन्थ बंगला भाषाके पद्यकाव्यका आदि ग्रन्थ है। ॐ मदीय गुरुपादपदाने 'अनुभाष्य'में उस ग्रन्थका जो परिचय दिया है, वह नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

'आदि कवि गुणराज खाँ महाशयने १३६५ शकाब्दमें इस ग्रन्थकी रचना आरम्भ की थी एवं १४०२ शकाब्दमें इसे समाप्त किया था।

'श्रीकृष्ण-विजय' की रचना ऐसी सरल है कि अर्द्धशिक्षिता रमणियाँ और साधारण वर्ग-परिचय जानने वाले निम्न श्रेणीके पुरुष भी इस ग्रन्थको अनायास ही पढ़ और समझ सकते हैं। इस ग्रन्थकी भाषा अलंकृत नहीं है। इसके पद्य अनेक स्थलोंमें सुमिष्ट नहीं हैं, चौदह अक्षरके छन्दमें कहीं-कहीं सोलह अक्षर और कहीं-कहीं बारह या तेरह अक्षर भी दिखलायी पड़ते हैं। इसके अधिकांश शब्द तात्कालिक व्यवहृत शब्द हैं। उन शब्दोंका अर्थ ठेठ राष्ट्रीय लोगोंके सिवा दूसरे समझ नहीं सकते। इस पुस्तकके अभावमें किसी भी बंगीय पुस्तकालयको सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता है।

पारमार्थिक साधकोंके लिये यह पुस्तक अत्यन्त आदरकी वस्तु है। वैष्णवाग्रगण्य पूज्यपाद श्रीगुणराज खाँ महोदयने सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भागवतके दशम और एकादश स्कन्धोंका सर्व-साधारणके बोध-ग्रन्थ सहज और सुन्दर अनुवादके रूपमें इस ग्रन्थकी रचना की है। इसलिये वैष्णव-जगतमें यह ग्रन्थ सर्वत्र पूजनीय है। जिस ग्रन्थका पाठ कर स्वयं महा-प्रभुजीने इतनी प्रशंसा की है, वह ग्रन्थ गौड़ीय-वैष्णव समाजमें कितने आदरकी वस्तु होगा, पाठकगण स्वयं इसकी कल्पना कर सकते हैं। अतएव यह ग्रन्थ बंगवासियोंके परम आदरकी वस्तु है; विशेषतः कोई-कहते हैं—यह ग्रन्थ बङ्ग-भाषाका आदि काव्य है।

श्रीश्रीमहाप्रभुके आविर्भावसे दो वर्ष पूर्व १४०५

शकाब्दमें श्रीदेवानन्द वसु द्वारा यह ग्रन्थ लिखा गया था। यहाँ पर मूल पयार (बंगला छन्द) को पाठकोंके निकट उपस्थित कर रहा हूँ—

'एक भावे वन्द हरि जीव करि हात।

नन्द-नन्दन कृष्ण-मोर प्राण-नाथ ॥

श्रील कविराज गोस्वामीने उक्त पयारकी द्वितीय पंक्तिका उल्लेख कर कहा है कि—'एह वाक्ये विकाइनु तौर-वंशोर हात।' यहाँ पर गुणराज खाँ (मालाधर वसु) प्रभुके वंशका थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक समझता हूँ। विशेषतः जिस वंशमें श्रीमहाप्रभुजीने आत्म-विक्रय कर स्वयं ऐसा कहा है।

बंगदेशके सम्राट आदिसूर कान्यकुब्जसे पाँच उच्चतम ब्राह्मणोंके साथ घोष, गुह, वसु, मित्र और दत्त इन पाँच उपाधियोंसे युक्त पाँच कायस्थोंको भी बंगालमें ले गये थे। इन कायस्थोंमें दशरथ वसु एक थे। इन दशरथ वसुके ही वंशमें श्रीमालाधर वसुका आविर्भाव हुआ था। मालाधर वसु बड़े गुणी थे। इसीलिये तत्कालीन बंगदेशके सम्राटने उनको 'गुणराज खाँ' उपाधिसे भूषित किया था। यही कारण है कि मालाधर वसुके वंशको 'खाँ' वंश भी कहा जाता है। गुणराज खाँ उक्त दशरथ वसुसे तेरह पीढ़ी पश्चात् हैं। गुणराजखाँके पुत्र सत्यराज खाँ हुए। सत्यराज खाँका पूर्व नाम लक्ष्मीनाथ वसु था। श्रीरामानन्द वसु इन्हीं सत्यराज खाँके पुत्र थे। अतएव गुणराजखाँके पुत्र और पौत्र को लक्ष्य करके ही श्रीमन्महाप्रभु कह रहे हैं—'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ। एह वाक्ये विकाइनु तौर वंशोर हाथ ॥' श्रीमन्महाप्रभुके समयमें ही गुणराज खाँके सहित तीन पुरुषोंकी बात जानी जाती है। हम यहाँ गुणराज खाँकी वंश-परम्पराकी तालिका दशरथ वसुसे लेकर रामानन्द वसु तक नीचे दे रहे हैं। नीचे क्रमानुसार जो नाम दिये जा रहे हैं, उन्हें क्रमशः दूसरेको पहलेका पुत्र समझना चाहिए—

ॐ 'श्रीकृष्ण विजय' १—बंग-भाषाका एक ग्रन्थ है। बहुतोंका कहना है कि यही ग्रन्थ बंगला भाषाका आदि-काव्य ग्रन्थ है।—श्रीडाकर भक्तिविनोद-रचित अमृतप्रवाह-भाष्य (वै. च. म १२।६६)

१-दशरथ वसु, २-कुशल, ३-शुभंकर, ४-हंस
५-मुक्तिराम, ६-दामोदर, ७-अनन्तराम, ८-गुणी-
नायक, ९-माधव, १०-श्रीपति, ११-ब्रह्मेश्वर, १२-
भगीरथ, १३-मालाधर वसु (गुणराज खॉ) १४-
सत्यराजखॉ (पूर्वनाम लक्ष्मीनाथ वसु), १५-रामा-
नन्द वसु ।❧

अतः श्रीरामानन्द वसु दशरथ वसुकी पन्द्रहवीं पीढ़ीमें हैं। मालाधर वसु अन्यन्त धनशाली पुरुष थे। उनके स्थापित देवाल्यों और उनके महलके चतुर्दिक गढ़ आदिको देखनेसे पता चलता है कि वे एक विराट भूम्याधिकारकी तरह बड़े समृद्धिशाली व्यक्ति थे। श्रीमन्महाप्रभुने इसी वंशके निकट आत्म-विक्रय किया है। यहाँ तक कि कुलीन ग्रामके पशु, पत्नी और कीट-पतंग भी उनको बड़े प्रिय थे। प्रियजनोंकी प्रत्येक वस्तु ही प्रिय होती है। शुद्ध प्रेम का यही लक्षण है।

श्रीमन्महाप्रभुकी लीलामें यह देखा जा रहा है कि उन्होंने एक ग्रन्थमें देखा कि तन्दनन्दन श्रीकृष्ण को प्राणनाथ बतलाया गया है, जो उन्हींका प्रचार्य विषय है। इसीलिये वे उस ग्रन्थके रचयिता के वंशमें आत्म-विक्रय कर आत्मप्रसाद प्राप्त किये हैं। सम्प्रदाय स्वीकार करनेका यही प्रधान सूत्र है। विशेषतः श्रीमन्महाप्रभुके चरित्रमें हम यह देख पाते हैं—

ईश्वर स्वभाव—भक्तेर ना लय अपराध।

अल्प सेवा बहु माने आत्मपर्यन्त प्रसाद ॥

(चै. च. अ १।१०७)

भक्ति कहनेसे समस्त प्रकारकी भक्तियाँ एक हैं—ऐसा निर्विशेष विचार किसी भी वैष्णव-सम्प्रदायने स्वीकार नहीं किया है। उनमें अधिकार भेद, रसगत सेवाभेद, उद्देश्यगत प्रयोजन भेद, उपास्य तत्त्वकी अनुभूतिभेद आदि विविध प्रकारके भेद या पार्थक्य विद्यमान हैं। ये भेद या पार्थक्य नित्य और

सनातन हैं। भक्तजनोंके इस प्रकार परस्पर रस-पार्थक्य के कारण उनमें मतभेद, परस्पर प्रेम-कलह आदि लक्ष्य किया जाता है। रस और अधिकारका विचार कर भगवान् अपने भक्तजनोंका कोई भी अपराध ग्रहण करना तो दूर रहे, अपने प्रियजनोंकी अति सामान्य और थोड़ी सी सेवाको भी 'बहुत' मानते हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उक्त 'आत्म-पर्यन्त प्रसाद'—वाक्यका अतीव गूढ़-तत्त्व प्रकाशमें लाया है। श्रीमन् महाप्रभुकी औदार्यलीलाका यह एक अभिनव पेशवरिक गुण है। 'प्रसाद' शब्दका साधारण अर्थ 'अनुग्रह' या 'कृपा' है। इसका एक दूसरा और भावार्थ भी लिया जाता है। जैसे, शास्त्रीय विधिसे अनुसार पूज्य या गुरु-वस्तुको किसी उपादान का 'निवेदन या समर्पण'। गौड़ीय वैष्णवाचार्य मुकुट-मणि उँवैष्णुपाद श्रीलप्रभुपाद श्रीचैतन्यचरितामृत के अनुभाष्यमें उक्त 'आत्म-पर्यन्त-प्रसाद' वाक्यका अर्थ लिखा है—'अपनेको प्रदानरूप अनुग्रह पर्यन्त करते हैं।' अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु भक्तकी थोड़ीसी सेवाको भी इतना अधिक मानते हैं कि वे अपने तक को उन्हें निवेदन या समर्पण कर देते हैं। श्रीमन्महा-प्रभुके इस गुण-वैशिष्ट्यकी कथा विवेचना करनेसे हम समझ पाते हैं कि तर्कके लिये भग्वाचार्यके साथ उनका मतभेद स्वीकार किये जाने पर भी उसे भूलकर परतत्त्वकी उपासना विषयमें उनका मध्यमतके साथ एकमत या सामंजस्य लक्ष्य करके ही श्रीभग्वाचार्यको साम्प्रदायिक मूल आचार्य स्वीकार किया गया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतकारने श्रीमन्महाप्रभुके दक्षिणात्य भ्रमणका जो चित्रण प्रकाश किया है और श्रीगोविन्ददासके कदचामें (यद्यपि यह सबकी मान्यता प्राप्त नहीं है।) महाप्रभुका भ्रमण-वृत्तान्त जैसा दिखलाई पड़ता है, उससे दक्षिणमें किसी-किसी क्षेत्रमें विष्णुका परतमत्व स्वीकृत होने पर भी उज्ज्वल रसके अधिदेवता स्वल्प श्रीकृष्ण-तत्त्वका परतमत्व स्वीकार

❧कुलीनग्राम मन्दिर (पाटवाही) में सुरक्षित तालिकासे संगृहीत । मालाधरके चौदहपुत्रोंमें सत्यराज खॉ द्वितीय पुत्र थे ।

कर उनकी सेवा-पूजा-अर्चन आदिको महाप्रभुने कहीं भी लक्ष्य नहीं किया। जो जगतको कृष्ण-उपासनाकी शिक्षा देनेके लिये आविर्भूत हैं, वे सम्पूर्ण देशमें भ्रमण करके कहीं भी श्रीकृष्ण-विग्रहका दर्शन न कर जिस मर्म-वेदनाका अनुभव किये, वह सर्वप्रकारसे शान्त हुई—उड़पोंमें श्रीमध्याचार्यके स्थानमें 'नर्त्तक-गोपाल' श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर। दक्षिणके धर्म-सम्प्रदायोंकी तात्कालीन अवस्था, श्रीमन्महाप्रभुका उद्देश्य और उनका प्रचार-प्रसंग वर्णन करते हुए चैतन्यचरितामृतके लेखकने लिखा है—

दक्षिण देशेर लोक अनेक प्रकार ।
केह ज्ञानी, केह कर्मों, पापखडी अपार ॥
सेई सब लोक प्रभुर दर्शन प्रभावे ।
निज निज मत छानि रहल वैष्णवे ॥
सबेई वैष्णव हय, कहे—'कृष्ण', 'हरि' ।
अम्य ग्राम निस्तारये सेह वैष्णव करि ॥
मक्लिकाऽजुंन तीर्थे जाइ महेश देखिल ।
ताहाँ सब लोक कृष्णनाम लउयाइल ॥

(चै० च० म० १।६, १०, ८, १२)

इससे पता चलता है कि श्रीमहाप्रभुने अवैष्णव श्रेणीके उपासकोंको भी अपने मतमें लाकर उन्हें 'कृष्ण-नाम' करनेके लिये उपदेश किया है। यही नहीं, यहाँ जो विष्णु-उपासक वैष्णवके नामसे परिचित थे, उनमें कोई भी कृष्णके उपासक न थे। श्रीमन्महाप्रभुने उनको भी कृष्णका परतमत्व समझा कर उनसे भी कृष्णनाम कीर्तन करवाया था।

अहोबल-नृसिंह, स्कन्दचेत्र, सिद्धवट, त्रिमठ आदि स्थानोंमें महाप्रभुने नृसिंहदेव, रामचन्द्र, त्रिविक्रम आदि विष्णु-विग्रहोंका दर्शन कर उन विग्रहोंके उपासकोंको भी अपने मतमें लाया था एवं वे उपासक उन-उन उपासना स्थलोंमें कृष्ण-उपासनाका परतमत्व उपलब्धकर कृष्णनाम करने लगे। कविराज गोस्वामीकी इन पंक्तियोंमें हम देख पाते हैं—

अहोबल-नृसिंहेरे करिला गमन ।
नृसिंह देखिया तौरे कैला नति-स्तुति ॥

'सिद्धवट' गेला वादा मूर्ति सीतापति ॥
रघुनाथ देखि' कैल प्रयति स्तवन ।
ताहाँ एक विग्र प्रभुर कैल निमंत्रण ॥
सेई विग्र 'राम'-नाम निरन्तर लय ।
राम-नाम बिना अन्य वाणी न कहय ॥
'स्कन्दचेत्र' तीर्थे कैल स्कन्द दरसन ।
'त्रिमठ' आइला ताहाँ देखि' त्रिविक्रम ॥
सेह विग्र कृष्णनाम लय निरन्तरे ॥

(चै० च० म० १।१६-१६, २१-२२)

श्रीमन्महाप्रभुने सिद्धवटके उस ब्राह्मणके मुखसे कृष्णनाम श्रवणकर उससे 'राम' नामके बदले 'कृष्ण' नाम लेनाका कारण पूछा—

पूर्वे तुमि निरन्तर लैते 'राम'-नाम ।
एथे केने निरन्तर लयो 'कृष्ण'-नाम ?

ब्राह्मणने उत्तर दिया—

विग्र बले—एह तोमार दर्शन-प्रभावे ।
तोमा देखि' गेल भोर आजन्म स्वभावे ॥
नाल्यावधि राम-नाम महण आमार ।
तोमा देखि' कृष्णनाम आइल एकवार ॥
सेह हँते कृष्णनाम जिह्वाते बसिया ।
कृष्णनाम स्फुरे, रामनाम दुरे गेला ॥

(चै० च० म० १।२४-२७)

उक्त ब्राह्मणके साथ श्रीमन्महाप्रभुका राम-तत्त्व और कृष्ण-तत्त्वके भेद-सम्बन्धमें अनेक विचार हुए थे। और उसमें महाप्रभुने कृष्णतत्त्वका परतमत्व स्थापना किया था। यहाँ तक कि उन्होंने बौद्धोंको भी वैष्णव धर्ममें लाकर उनसे कृष्णनाम करवाया था।—

तोमा-सवार 'गुरु' तबे पाइवे चेतन ।
सब बौद्ध मिलि करे कृष्ण—संकीर्तन ॥
गुरु कर्णे कहे सबे कृष्ण, राम, हरि ।
चेतन पाइया (बौद्ध) आचार्यबले 'हरि' 'हरि' ॥

(चै० च० म० १।६०-६१)

श्रीमन्महाप्रभुने विष्णुकांचीमें लक्ष्मी-नारायणका दर्शन किया और वहाँ पर लक्ष्मी-नारायणकी अपेक्षा

कृष्ण-तत्त्वका परतमत्व समझाकर वहाँके अनेक लोगोंको कृष्ण भक्त बना दिया—

विष्णुकाञ्ची आसि' देखिल लक्ष्मीनारायण ।

प्रणाम करिया कैल बहुत स्तवन ॥

प्रेमावेशे नृत्य-गीत बहुत करिल ।

दिन दूई रहि' लोके 'कृष्णभक्त' कैल ॥

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभुने समस्त दक्षिण देशमें भ्रमणकर अन्तमें अपने सम्प्रदायके पूर्वाचार्य तत्त्ववादी श्रीमध्वमुक्तिके पीठस्थान उडूपी-नगर पहुँचे । यहाँ उन्होंने पहले-पहले नर्त्तक-गोपाल—श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन किये ।—

मध्वाचार्य स्थाने आइला जौंहा तत्त्ववादी ।

उडूपीते कृष्णदेखि' ताहाँ हैल प्रेमस्वादी ॥

नर्त्तक—गोपाल देखे परम—मोहने ।

मध्वाचार्य स्वप्न दिया आइला तार स्थाने ॥

गोपीचन्दन तले अङ्गुलि दिगावे ।

मध्वाचार्य ठाई आइला कौन मते ॥

मध्वाचार्य आनि' तौरे करिला स्थापन ।

अद्यावधि सेवा करे तत्त्ववादीगण ॥

कृष्णमूर्ति देखि' प्रभु महासुख पाइल ।

महाप्रेमावेशे बहुत नृत्य-गीत कैला ॥

(चै० च० म० १।२४७।२४१)

यहाँ विशेषरूपसे लक्ष्य करनेकी बात है कि महाप्रभुजी दक्षिणमें सर्वत्र भ्रमण कर श्रीकृष्ण मूर्त्तिका कहीं भी दर्शन न पाकर कहीं भी सुखी न हो सके । उनको उन सव स्थानोंमें वहाँके अन्यान्य विष्णु तत्त्वके उपासकोंके साथ तत्त्वलोचना कर श्रीकृष्णतत्त्वका परतमत्व स्थापन करनेमें बहुत ही श्रम स्वीकार करना पड़ा । यहाँ तक कि बीच बीचमें कहीं-कहीं उन्होंने इसके लिए दुःख भी अनुभव किया है । परन्तु उडूपी (मध्वाचार्यके स्थान) में श्रीकृष्णमूर्त्तिका दर्शन करते ही महाप्रभुको महासुख

हुआ—'कृष्णमूर्ति देखि' प्रभु महासुख पाइल ।' महाप्रभुने दूसरी जगहोंमें भी विष्णुमूर्त्तिका दर्शन कर महाप्रेममें विभोर होकर नृत्य और कीर्त्तन तो किया है; परन्तु इस जगह उन्होंने प्रेमका भरपूर आस्वादन किया—जिस प्रेमास्वादनके लिये महाप्रभुका श्रीधाम मायापुरमें आविर्भाव है, उस उज्वल रसका आस्वादन उनको उडूपीमें ही मिला । परम उज्वल वास्तव्य रसके आधिपत्या या उद्दिष्ट परतत्त्व दक्षिणमन्थन-दण्डधारी नृत्यकलायुक्त नर्त्तक गोपालका परम मोहन वेशमें दर्शन किये । वे सम्पूर्ण दक्षिणदेशका भ्रमण करके कहीं भी इस परम मोहन रूपको नहीं देख पाये । इसीलिये मध्वाचार्यके स्थानमें ही वे आत्म-प्रसाद प्रसाद लाभ किये ।

श्रीमन्महाप्रभुजी मध्वाचार्यके स्थानमें परम-मोहन मूर्त्ति दर्शन कर 'महाप्रेम' का आस्वादन कर 'महासुख' प्राप्त किये और वे उसी जगह आत्म-प्रसाद भी लाभ किये । इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने दक्षिण देशीय नारायणोपासक रामानुज, नृत्तिहोपासक विष्णुस्वामी, आदि किसी भी आचार्यको अपना पूर्वाचार्य नहीं माना है । जिस सम्प्रदायने श्रीकृष्णको परतत्त्व माना है, वही सम्प्रदाय महाप्रभु द्वारा अङ्गीकृत सम्प्रदाय है । क्योंकि श्रीमन्महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण हैं, एवं कृष्ण-तत्त्व ही उनका एक मात्र प्रचार्य विषय है । गोपीभाव अङ्गीकार कर कृष्णरसका आस्वादन करनेके लिये ही उनका आविर्भाव है । अतएव कृष्णतत्त्वके अतिरिक्त महाप्रभुके आत्मविक्रयका भला और दूसरा कौन सा क्षेत्र हो सकता है ?

अब देखा जा रहा है कि गुणराज स्वॉके निकट महाप्रभुके आत्मविक्रयका एक मात्र कारण है—नन्दनन्दन कृष्णको उपास्य बतलाना । वे नन्दनन्दन कृष्ण ही वास्तव्य भावसे अर्च्चावतार—नर्त्तक—

❀ बल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य आदि आचार्याण महाप्रभुके समसामयिक हैं एवं वे और उनके अनुगत आचार्यशुन्द श्रीमन्महाप्रभुके सम्पर्कमें आकर ही माधुर्य रसके द्वारा कृष्णोपासनाका श्रेष्ठत्व उपलब्धि किये हैं । वे सभी दक्षिण देशीय वैष्णव होनेपर भी दक्षिण देशमें इनका नतो कोई सम्प्रदाय है और न प्रचार ही ।

गोपालके रूपमें मध्व सम्प्रदाय द्वारा पूजित हो रहे हैं। श्रीकृष्ण स्वयं अपने निजजन मध्वाचार्यको स्वप्न देकर उनके निकट उपस्थित हुए थे। समग्र दक्षिण देशमें भ्रमण कर कहीं भी, किसी भी सम्प्रदायमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने कृष्णका परतमत्व स्वीकृत होकर उनकी सेवा-पूजाकी व्यवस्था नहीं देखी। अतएव मध्वके निकट और उनके वंश अर्थात् शिष्य-प्रशिष्य सयके निकट आत्म-विक्रय किये होंगे—इसमें संदेह ही क्या है?—यही है, श्रीमन्महाप्रभुका सम्प्रदाय-स्वीकार। विद्याविनोद महाशय, इतनी सरल बातको क्यों नहीं समझे ?

एक और भी प्रश्न हो सकता है, चढ़ यह कि, मध्वाचार्य द्वारा प्रतिष्ठित उत्तर-राड़ी मठमें श्रीराम-सीताकी मूर्तिकी पूजा होती है। यह तो कृष्ण-उपासना नहीं है। किन्तु स्वयं महाप्रभुने ही षड्भुज-मूर्ति प्रकाश कर यह दिखला दिया है कि वे ही रामचन्द्र हैं, वे ही कृष्णचन्द्र हैं और वे ही गौरचन्द्र हैं। यही मूर्ति उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्य को दिखलायी थी। आश्चर्यकी बात है कि समग्र दक्षिण देशमें एकमात्र मध्वाचार्य ही श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा किया करते हैं। इसका कारण यह है कि मध्वाचार्य स्वयं श्रीश्रीहनुमानके रूपमें श्रीरामचंद्रके दास्यरसके और पुनः श्रीभीमसेनके रूपमें श्रीकृष्णचन्द्रके सख्यरसके अनन्य सेवक थे। पुनश्च श्रीहनुमान् और श्रीभीमसेन ही कलियुगमें श्रीमन्म-

हाप्रभुके प्रचार्य विषयका उत्कर्ष प्रदर्शनकेलिये श्रीमन्मध्वाचार्यके रूपमें आविर्भूत हैं। इन श्रीमध्वाचार्यने ही उन्नत उज्वल रसस्वरूप वात्सल्य रसद्वारा श्रीश्रीनर्त्तक-गोपालकी सेवा की है। ये श्रीनर्त्तक गोपाल-विग्रह स्वप्नमें श्रीमन्मध्वाचार्यके हृदयमें आत्म प्रकाश कर उन्हींके द्वारा संगृहीत एक प्रकांड गोपीचन्दनके टुकड़ेके भीतरसे आविर्भूत हुए थे। श्रीमध्वके भजन-क्षेत्र उड़पीमें श्रीराम-और श्रीकृष्णके भजनका अपूर्व सम्मेलन है एवं श्रीमन् महाप्रभुका षड्भुजमूर्तिमें आविर्भाव और प्रकाश ही इस अपूर्व सेवा या भजनका अपूर्व सम्मिलित उपास्य-तत्त्व है। श्रीमन् महाप्रभुका ऐसा आविर्भाव ही विष्णु-तत्त्वका अचिन्त्यभेदाभेद आविर्भाव है। श्रीमध्व ही इस तत्त्वको प्रकाशमें लानेवाले सर्व-प्रथम या मूल आचार्य हैं। इस दृष्टिसे भी वे तत्त्ववादी गौड़ीय वैष्णवाचार्य हैं।

श्रीमन् मध्वाचार्यद्वारा पूजित श्रीराम-सीताके-विग्रह अत्यन्त प्राचीन प्रागैतिहासिक युगके हैं। श्रीरामचन्द्रके अविर्भावके बहुत पहलेसे ही सूर्यवंशी राजालोग इस युगल विग्रहका पूजन करते थे। महाराज दशरथ भी वंश-रम्परासे इस युगल-विग्रहको पाकर उनकी पूजा करते थे। अन्तमें श्रीमध्व द्वारा सेवित विग्रहके रूपमें आज भी वे उड़पीमें वर्तमान हैं। (क्रमशः)

— श्रीविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराज

प्रार्थना

दयानिधि तेरी गति लक्ष्मी नहिं जाई ।
सो जइ कवि केहि भौंति बखाने, उपमा न बनव बनाई ॥
सुर नर मुनि जठनन करि हारे, कतहूँ थाह न पाई ।
अगम अगोचर तेरी महिमा, सहस शारदा गाई ॥
निगमागम पुरान कहि गावत, नेति कहत वौराई ।
शचीदास किमि भौंति बखाने, हूँ अति मूढ गुसाईं ॥

— श्रीसुशीलचन्द्र त्रिपाठी, एम० ए०

श्रीचैतन्य महाप्रभु

(गताङ्किते श्रामे)

मीठी मोद प्रदायिनी सुरभि थी सदमों सरोजात की ।
लाखों राजिवनाथ न्यून करती ज्योती ससी भाँति की ॥
या मानों शुभदायिका अन्ल थी सोहे निमाई संगी ।
माता थी निस्तब्ध निहार छवि को नीकेऽनुरागों रंगी ॥२६॥
शास्त्रोद्भुत सुज्ञानवान मृदुता पायी अती पावनी ।
हारे थे बहु विज्ञ चारिध सभी फैली सुधारा घनी ॥
वारहस्पत्य समान ज्ञान निधि में जीते कवी को घने ।
आये थे नवद्वीप दिग्बिजयि भू पै सदा शोभने ॥२७॥
देवोत्वंश विभापती सद्गुण थे नीके निमाई युवा ।
नेत्रोन्मीलित काल में सुलभ सी पाई जयी की विभा ॥
याँ ही सोचविचार चार करते शोभा बढी पावनी ।
थी देशाटन देश बंग विमुदा इच्छा बुधाहारिनी ॥२८॥
साथी साथ सजा विधी सब सजे बंगोन्मुखी देव थे ।
पद्मा पावन तीर-तीर वसि थे उत्कृल्ल भू देव थे ॥
भार्याशील निधी मृदु मृग दृगी स्वर्गोन्मुखी कोमला ।
लक्ष्मी थी निज गेह देवपुर में काया तजी सामला ॥२९॥

दोहा—बंग देश से जब फिरे तरुण निमाई देव ।
समझाई अम्बा शची, “विधी दिया वह लेव” ॥३०॥
होते थे गत वार शोक हत थी माता शची नेह से ।
लक्ष्मी की सुधि से सशोक रहती जाती नहीं गेह से ॥
आती थी बहु नारि मान अब तू जाता रुका है नहीं ।
धाता का विधि टाल दे नर कहो ऐसा हुआ है नहीं ॥३१॥
मेरा लाल ललाम नारि विन ही जीता नहीं दीखता ।
वाणी से कहता नहीं कुछ यदि भावों यही भासता ॥
प्यारी नारि कुमारी में विन वधू जीती रहूँगी नहीं ।
प्यारा पूत विवाह अन्त इसका शोकाकुला में रही ॥३२॥
ज्ञानी विज्ञ सभी निधान नय के साँचे सदा सोहते ।
सीधे बृद्ध गुणी सनातन द्विजा न्यारे गुणों मोहते ॥
ज्ञानी रूप निधान तेज मुख का राक्षसपती सा बना ।
जाता विष्णु प्रिया सुनाम जिसका पाई मनोभावना ॥३३॥

—श्रीशङ्कलाल चतुर्वेद, बी० ए०, साहित्यरत्न

श्रीश्रीवृन्दावन

[समालोचना]

ब्रजसाहित्य-मण्डल मथुरासे प्रकाशित 'ब्रज-भारती' नामक त्रैमासिक पत्रिकाके वर्ष १३, मार्गशीर्ष, संवत् २०१२ वि०, अंक ३ में पृष्ठ ३३ से लेकर पृष्ठ ४८ तक श्रीकिशोरी शरणअलि, वृन्दावन निवासी द्वारा लिखे गये 'वृन्दावन' नामक शीर्षकका अवलोकन कर हमें बड़ा ही आश्चर्य एवं साथ ही साथ खेद भी हुआ। उस लेखसे ऐसा ज्ञात होता है कि आप राधावल्लभी सम्प्रदायके अन्तर्गत कोई महानुभाव हैं। लेखकने उक्त लेखमें अनेक स्थानोंपर ऐसी-ऐसी निराधार कष्ट-कल्पनाएँ की हैं, जिनकी आलोचनाके रूपमें एक विशुद्ध-विवेचन ब्रजभारतीके पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर देना अपना महान् कर्तव्य समझता हूँ। क्योंकि प्रेमीपाठक भावावेश में आकर उस कष्टकल्पनामूलक अमौलिक सिद्धान्तके वाग्जालमें फँसकर अयथार्थ-तत्त्वको यथार्थतत्त्व समझ भ्रमजालमें गिर सकते हैं। अतः उस लेखका निराकरण कर देना ही उचित पथ्य हो सकता है।

अपने अपसिद्धान्तके पोषणके लिये नाना-प्रकार की असाध्य कल्पना करनेका नाम 'कष्टकल्पना-दोष' है। कष्टकल्पनाओंका प्रयोगकारी विशुद्ध प्राचीन प्रमाणोंकी ओर नहीं देखता अथवा देखकर भी उनकी अवहेलना करता है। वह तो केवल चेत-केत-प्रकारण अपनी उक्तियोंको सुदृढ़ करनेकी चेष्टा करता है। उक्त लेखके पृष्ठ ४३ में आप लेखकने लिखा है—

“वि० संवत् १५६० कार्तिक शु० १३ को राधा-वल्लभीय सम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीहितहरिवंश-चन्द्र महाप्रभुका शुभागमन हुआ और तब नित्य-विहार स्थलरूप इस पंचकोसी वृन्दावनके लीलास्थलों का प्राकट्य हुआ, जो कि वस्तुतः अब तक लुप्त थे।” इत्यादि।

अपनी इस उक्तिको सुदृढ़ बनानेके लिये लेखकने महाप्रभु श्रीगौरांगदेवका वृन्दावनमें न आना, केवल अक्रूर घाटसे ही खड़े होकर दूरसे वृन्दावन की शोभा देखना, महाप्रभुके वृन्दावन आगमन आदिका प्रतिपादन करनेवाले श्रीचैतन्यचरितामृतकारके वचनों को अप्रामाणिक बतलाना, कविकर्णपुर आदि महानुभावोंके ग्रन्थोंमें महाप्रभुके वृन्दावन आगमनका कहीं उल्लेख नहीं है—ऐसे अपसिद्धान्तका उल्लेख करना, वृन्दावनमें उस समय इमलीका पेड़ नहीं था, इत्यादि नाना-प्रकारकी कष्टकल्पनाएँ की हैं।

आज तकके सभी इतिहासकारोंने श्रीरूप-सनातन द्वारा ही ब्रज और ब्रजके समस्त तीर्थोंका प्राकट्य बतलाया है। किसी-किसीने श्रीरूप और सनातनके आनुगत्यमें नारायण भट्ट द्वारा भी बतलाया है। परन्तु आज किशोरीशरण अलिजीके घरमें न जाने कहाँसे इस प्रकारका अप्रामाणिक नव्य इतिहास निकल आया, इसका विचार कर हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है।

हमें यह भय है, इस कष्टकल्पनामय नव्य-इतिहास को देखकर पीछेसे अचानक कोई दूसरा कष्टकल्पना-पोषक इतिहास भी आविर्भूत न हो जाय। अभी इस लेखमें तो केवल यही कहा गया है कि हितहरिवंशजीने वृन्दावनको प्रकट किया है, परन्तु हो सकता है, आगे आनेवाले इतिहासोंमें कदाचित् श्रीहितहरिवंशजीको सम्पूर्ण ब्रजमण्डलका प्रकटकर्ता भी बतला दिया जावे। इतिहासकारोंने श्रीलोकनाथ, भूगर्भ रूप-सनातन आदि गौड़ीय संतोंके द्वारा ही चाराह-पुराणमें वर्णित मथुरा-मण्डलके समस्त तीर्थोंका प्राकट्य बतलाया है। उन्होंने कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि श्रीरूप-सनातन आदिने वृन्दावनको

छोड़ कर मथुरामण्डलके दूसरे-दूसरे समस्त तीर्थोंका प्रकाश किया और पंचकोसी वृन्दावनके तीर्थोंका प्राकट्य श्रीहितहरिवंशजी द्वारा हुआ है। इस विषय में हम यह पूछते हैं कि—क्या वृन्दावन और वृन्दावनके तीर्थ-समूह मथुरामण्डलसे पृथक् हैं? क्या वाराहमें निधुवन, निकुंजवन, वंशीवट, धोर-समीर, शृंगारवट, रासस्थली कालीय-दह आदि तीर्थों को मथुरामण्डलसे पृथक् बतलाया गया है? क्या वृन्दावन और वृन्दावनके तीर्थ गोप्य-स्थल नहीं हैं? क्या द्वादशवनोंमें वृन्दावन सर्वोपरि नहीं है? यदि वृन्दावन या वृन्दावनके तीर्थ-समूह गोप्य-स्थल नहीं हैं, तो राधाकुण्ड आदि ब्रजके गाँवोंमें बसे हुए महात्मा लोग चारों ओरसे आकर वृन्दावनमें ही क्यों बसने लगते? आपने उक्त लेखके पृष्ठ ४३ की पंक्ति २२-२३ में ऐसा ही कहा है।

लेखक महोदयका यह दावा है कि 'डा० सुशील कुमार दे' ने अपनी शोधपूर्ण पुस्तक 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल' में श्रीचैतन्यका अक्रुरघाट से ही वृन्दावन दर्शन करना लिखा है। इस विषय में हम युक्तिके लिये ऐसा मान भी ले कि डा० सुशील कुमार दे ने ठीक लिखा है, तो भी श्रीचैतन्य महाप्रभु का वृन्दावन गमन असिद्ध नहीं होता। महाप्रभु अक्रुरघाटसे लता-पूँजीभूत वृन्दावनका दर्शन करते थे—इससे यह कैसे कहा जा सकता है कि महाप्रभुजी वृन्दावनमें कभी गये ही नहीं। मान लिया, लेखक महोदयका निवास-स्थल वृन्दावनमें है। यदि वे किसी समय भ्रमण करते हुए अक्रुरघाटमें पहुँचे और वहाँसे वृन्दावनकी शोभा देखने लगे, तो क्या हम इससे यह कह सकते हैं कि लेखक महोदय वृन्दावनके निवासी नहीं हैं, बल्कि अक्रुरघाटके रहने वाले हैं और वे वृन्दावन कभी गये ही नहीं हैं? महाप्रभुके वृन्दावन जानेके अथवा वहाँ रहनेके सम्बन्धमें कोई निषेधपूर्ण वचन नहीं है। ऐसे निषेध-वचनकी कष्टकल्पना करनेसे 'सर्वज्ञानि' नामक दोष आ पड़ता है। अक्रुरघाटमें रहने वालोंका क्या

किसी समय मथुरानगरी या वृन्दावनमें अथवा दोनोंमें गमनागमन सिद्ध नहीं होता है? मानों श्रीहितहरिवंशजी मानसरोवरमें निवास करते थे; इसलिये वे वृन्दावनमें कभी आये नहीं, अथवा उन्होंने वृन्दावनमें कभी भी निवास नहीं किया—लेखक महोदय ऐसी कष्टकल्पना क्यों नहीं कर लेते? फिर भी लेखक महोदयने दावा किया है कि डा० विमानविहारी मजूमदारने 'चैतन्यचरितेर उपादान' नामक पुस्तकमें श्रीचैतन्यके समसामयिक लेखकों द्वारा वर्णित श्रीचैतन्यदेवकी वृन्दावन-यात्राका विवरण देते हुए लिखा है—“चरितामृते सप्तदश-परिच्छेदे प्रभुर वृन्दावन-यात्रा, प्रकाशानन्द-काहिनी ओ वृन्दावन दर्शन वर्णित आछे। प्रभुर वृन्दावन-यात्रार क्रीन विशद वर्णन कृष्णदास कविराजेर पूर्वे केह लिखेन नाई।”

यह भी ठीक ही है। चैतन्यचरितामृतके पूर्ववर्ती कोई भी महानुभाव प्रभुकी वृन्दावन-यात्राका विशद रूपसे वर्णन न किये होंगे। यहाँ विशद रूपसे वर्णन का निषेध है। संक्षेपरूपमें वर्णनका अथवा वृन्दावन गमनका निषेध नहीं है। पूर्ववर्ती लेखक विस्तार पूर्वक न लिख संक्षेपमें ही लिख गये हों, तो इससे क्या विगड़ता है? विस्तारपूर्वक वर्णन न करनेका तात्पर्य संक्षेपतः वर्णन करनेका है; इससे महाप्रभुके वृन्दावन गमनका निषेध नहीं सम्भ्रज जायगा। मान लिया, सुशील कुमार दे तथा डा० विमानविहारी मजूमदार आदि दो-एक व्यक्ति भ्रमवश 'महाप्रभु वृन्दावन नहीं गये', ऐसा लिख भी दिये हों, तो उनके वचन सामाजिक नहीं माने जा सकते हैं। क्योंकि चैतन्य-चरितामृतकारने एवं उनके पहले अनेक महानुभावोंने प्रभुके वृन्दावन गमनका उल्लेख किया है। किसीने कभी निषेध नहीं किया है। लेखकने संभवतः चैतन्य-चरितामृतके प्रभुके वृन्दावन आगमनका प्रकरण सर्वांशरूपमें पढ़ा नहीं है। आपने कहा है—'श्रीचैतन्य जितनी बार गये अकेले ही रह गये। फिर वहाँ की प्रत्येक घटना कविराजको कैसे ज्ञात हो गयी।'

इत्यादि । यह भी लेखक महोदयका भ्रमपूर्ण विचार है । प्रभु अकेले ही वृन्दावन आए थे—ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है । बल्कि सर्वत्र बलभद्र भट्टाचार्य जीके साथ ही जानेका उल्लेख है । किसी ग्रन्थके विषयका उल्लेख केवल सुनकर ही नहीं किया जाता, बल्कि उस ग्रन्थका सम्पूर्णरूपसे स्वयं पठन-पाठन करके अथवा उस ग्रन्थके विषयमें सम्पूर्ण विज्ञ किसी सहृदय महानुभावसे ज्ञात होकर उल्लेख किया जाता है । जैसे बड़ी हड़ (हरीतकी) माता-रूप है । आयुर्वेदमें हड़की बड़ी महिमा बतलायी गयी है । उससे उदर-विकार दूर हो जाता है, क्योंकि वह दस्तावर है और उससे पेट साफ हो जाता है । ऐसा जान कर यदि हम विसूचिका (हैजा) व्याधिमें उसका प्रयोग करेंगे, तो हमारे राम तो मर ही जायेंगे । अतः किसी विषयका उल्लेख हम तब कर सकते हैं, जब हम विषयका सर्वांश अवलोकन कर लें । नहीं तो हमारी दशा विसूचिकामें हरीतकी-प्रयोगकी भाँति हो जायगी ।

अस्तु, हम यहाँ पर कतिपय प्राचीन प्रमाणोंका उद्धार कर रहे हैं, जिससे लेखक और पाठकवर्ग स्पष्टरूप में जान जाँय कि चरितामृतके पूर्वके रचित अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी श्रीमन्महाप्रभुके वृन्दावन आगमनका उल्लेख है—

(क) श्रीकविकर्णपूर विरचित “चैतन्यचन्द्रोदय-नाटक” में—

राजा—कथयत किं ज्ञानीत ।

वार्ता—सर्वमेव जानीमः ।

प्रथावृत्तः स मधुपुरतो दृष्ट वृन्दावनश्रीः
कुञ्जे कुञ्जे तरणितनयाकूलत क्रिसकेलिः ।
गत्वा गोवर्द्धनगिरिधरं कानने कानने च
भ्राम्त्वा-भ्रान्त्वा दितकतिपर्यं वधर्मनोशो व्यलोकं ॥

राजा—श्रे वृन्दावने किं किं कृतं भगवता तज्जानासि ?

वार्ता—अथ किं तस्मिन्ने समागतानां केपाश्चिद्भ्रातृभ्यामाजां
मुखतः श्रुतम् ॥६१६६॥

राजा—कथयतां ।

वार्ता—भवचन च वसुनावनान्तलक्ष्मी
मवकलपन्ननु वक्ति मुक्तकण्ठम् ।
विलपति परिरभ्य लोभ्यवाहुः
प्रति लतिकं प्रतिशाखिं सोऽलिल्लेशः ॥

अपिच—नैचिकीनिचय-वीक्षणमोदा—

दुन्मदः स्खलितवान् गलदध्रः ।

स्पन्दमान सुरसिन्धुरिवासी

द्वातभग्न ईव मेहतदान्तः ॥६०॥

मदमुदितमयूरकंठकाण्डधुति—

मभिनीष्य कुतश्चिदप्यकस्मात् ।

स्खलति लुठति वेपते विरौति

इवन्ति विपीदति हन्त मूर्च्छतीशः ॥

अपिच—इवापि वत्सकुलमुच्चलपुच्छं

धावमानमनुवीष्य वनान्तः ।

कण्ठकावलिनि वर्त्मनि सद्यो

विश्रुताङ्गमभितः स्खलतीशः ॥६१॥

राजा—ततस्ततः ?

वार्ता—ततः—

कुञ्जलीमनि कदापि यदण्डया मूर्च्छंयानिपतितस्य भरश्याम् ।

भाजिहन्ति हरिणा मुखकेणानापिवन्ति शकुना नयनाम्भः ॥

(ख) श्रीकविकर्णपूर विरचित दूसरा ग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत, महाकाव्य भी है, उस श्रीचैतन्य-चरितामृतमहाकाव्य में उल्लेख है—

वृन्दावनद्दुमानिथमालिङ्गयति विह्वलः ।

तथा लिलिङ्ग स तरुं यथा चूर्णायते मुहुः ॥११४६॥

(ग) श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत व मुरारी कृष्ण भी महाप्रभुके समसामयिक तथा चरितामृतके बहुत पहले का है । उसमें वर्णित है—

अत्र पश्य च गौरांग सर्परूपधरोऽप्यधः ।

वकानुजो महापापः प्रातस्तं चाहनद्धरिः ॥ ७१६

स्वगनैः सखिभिरचात्र द्रष्टुवा भोजनकौतुकम् ।

स्वयम्भूर्वःसरं वत्सस्वजनापहरोऽभवत् ॥ ७१७

धेनुकस्य वधञ्चात्र कृपयास्य विमोचनम् ।

कालीयदमनञ्चात्र हृद् पश्य सुनिर्मलम् ॥ ७१८

कालीयदमनीञ्जान् मूर्तिं परय जगद्गुरोः ।
 शीतार्श्वकृततः कृष्ण उस्थितोऽथ जलाद्बहिः ॥ ७।६
 अथ वै द्वादशादित्य उस्थिता गगनोपरि ।
 द्वादशादित्यपद्मोऽथ कल्पते वेदपारमैः ॥ ७।१०
 अत्रैव वत्सपालानां दावानेः परिमोचनम् ।
 कृतं नन्दकुमारेण भक्तदुःखापहारिणा ॥ ६।११
 कार्तिकपुष्पिमावान्तु देवदेवेश्वरी हरिः ।
 चकार रासं गोपीभिर्यत्र श्रोत्र्यामसुन्दराः ॥ ६।२
 तदैव रविकाप्रयोः स खलु गौरचन्द्रो हरि
 मंहामणिनिमद्युतिः प्रकटमेव व्यक्तोभवत् ।
 स रासरसताण्डवै विविधरम्यवेशोऽञ्जलैः
 रत्नोच्चितमुल्लसितैर्जयति भक्तवर्गैः प्रभुः ॥ ६।६
 प्रफुल्लमधुरद्युतिः सरसरम्यवृन्दावनं
 वसन्तवनमारुतैः प्रकटयन् शं रासोत्सवैः ।
 सुरम्यमपि किं भवे सकलमेव रासस्थलं
 स गोपीजनवल्लभो मदनगर्भवल्लर्वा वभौ ॥ ६।७
 दृष्ट्वा विप्रस्तथाभूतं तथापीश्वरमायथा ।
 हृतं स दर्शयामास पूर्वलोलास्थलीं शुभाम् ॥
 अतस्तं परय गोविन्दो वंशोवदसमीपतः
 स्थितो जगौ कामवीजं गोपीजनविमोहनम् ॥ ६।६
 श्रुत्वा सुललितं गानं गोप्यस्तत्र समाययुः ।
 ताम्ब्यः प्रेममदाद्वाहयं कृष्णो धर्ममशिक्षयत् ॥ ६।१०
 —सुरारीकद्वया (श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम्)
 चतुर्दशशताब्द्यन्ते पञ्चत्रिंशद्विंशतरे ।
 आपादमितसप्तम्यां ग्रन्थोऽथ पूर्णतां गतः ॥
 —अमृतवाजारपत्रिका प्रेस, कलकत्ता में मुद्रित

(घ) श्रीपादरहरिसरकार ठाकुरने—जो महाप्रभुके परम अन्तरंग संगी थे, अपने श्रीचैतन्यसदस्ननाम-स्तोत्र में लिखा है—

अमोपशमनप्रेयः पूर्वनीपतलाश्रयः ।
 नौकाविनोदसंस्मारियमुनादर्शनोत्सुकः ॥ ३०४
 लुप्तपादांकुष्याकुलयमुनातटपादविन्दधनदानः ।
 राममदबलविनोदकौतुकी प्रेमासनकुलहरी लसद्गुणः ॥ ३०५
 व्यक्तारासरसासक्तगोपीभाषाकुलध्वनिः ।
 गोपीभावाजसत्तनुर्भाष प्रस्मरन्वाकुलः ॥ ३०६

(ङ) चैतन्यमंगल नामक ग्रन्थ भी चैतन्यचरिता-मृतके बहुत पहले लिखा गया है, जिसमें भी स्पष्ट कथन है—

कह कह कह गौर कृष्णदासे कहे ।
 कृष्णदास बोले गोसाइ सुनह वचने ॥
 रासकीडा कैल कृष्ण एह वृंदावने ॥
 × × × ×
 एह कश्यतरु मूले पूरे वंशीनाद ।
 पोल कोश पथे गोपीर हैल उनमाद ॥
 × × × ×
 एहस्थाने देख वामे ए गोविन्दराय ।
 शुभि मात्र गोरार्चोद विमोर हियाय ॥
 हईल आवेश पुन परवश अंग ।
 ए भूमि आकाश जोड़े प्रेमेर तरंग ॥
 हूँ हूँकार नादे रस अभिया वरिषे ।
 पशु-पक्षि उनमाद मदन हरिषे ॥
 धकाले पुष्पित भेल सब तरुवर ।
 कोकिल सुस्वर नादे मातिल अमर ॥
 वंशी बजि डाके प्रभु रास प्रशंसिया ।
 भाजिरे भाजिरे बोले मुचकि हौंसिया ॥
 अस्तु लेखक महोदय ने जो कहा है—'चरितामृत-कारके पहले कविकर्णपूर महोदय प्रभृति अन्य किसीने महाप्रभुके वृन्दावन आगमनका वर्णन नहीं किया है', उसका स्पष्ट ही निराकरण हो जाता है ।

उपरोक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त अंगभाषामें विरचित भक्तमाल, भक्तिरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें भी इस विषयका स्पष्ट ही प्रतिपादन है । देखिये बंगला भक्त-मालमें—

निकटे आछेन चेकला श्रीराधामाधव ।
 वृन्दावनचन्द्र जीकर बहई प्रभाव ॥
 परे आमलि तला यथा पतित पावन ।
 गौरांग वसिला जये आइला वृंदावन ॥
 अद्यापि से आमली वृक्ष आछे वर्त्तमान ।
 महाप्रभु सार सबे परम शोभन ॥
 षट्भूष महाप्रभु तबाब बिराजे ।

दूरे श्यामसुन्दर किशोरी सह राजे ॥
 रञ्जते श्रीमहादेव वनखण्ड स्थान ।
 चुन्दावने वास करि आवन्दे मगन ॥
 दूरे गिया योगपीठ गोविन्द आलय ।
 मन्त्रमयी ध्यान यथा साधके करय ॥
 भक्तिरत्नाकरमें उल्लेखित उस विषयका अवलो-
 कन कीजिये—

यथा जे जे खीला पूर्वे करथे आपने ।
 अज्ञातेर प्राय ताहा जिज्ञासे सर्वजने ॥
 अन्य मुखे द्युनिते उल्लास अतिशय ।
 ए हेन कौतुके मत्त शचीर ललय ॥
 क्रमे क्रमे अपवन वन अमण करिया ।
 आइलेन चुन्दावन मथुरा हइया ॥
 यमुना पुलिने पैछे भावेर विकार ।
 लक्षमुख हइलेखी नारि बखिबार ॥
 असंकय असंकय लोक अतुर्हिगे भाय ।
 प्रेमे महानत्त हइया गोरानुन गाय ॥
 लोकभीद भये मसु अकरे आईया ।
 तथाच करेन भिष्ठा निर्जन पाईया ॥
 मध्ये मध्ये बसिये तिनितही वृषतले ।

निजानंदे भासे प्रभु नयनेर जजे ॥
 ए आमली तले महा कौतुक हइल ।
 कृष्णदास राजपूते अति कृपा बैल ॥
 और भी देखिए—

देख ए अपूर्व वट यमुनार तीरे ।
 लकड़े शृंगारवट कहये इहारे ॥
 एथा श्रीकृष्णेर नाना बेशादि रिजास ।
 बाबाइला मुखलादि सखार उल्लास ॥
 इहारेखी नित्यानंद वट केह कय ।
 जे जाहा कहये ताहा सब सत्य हय ॥
 नित्यानंद एथा देखे कैला आगमन ।
 संक्षेप कहये ताहा करइ अवण ॥

× × × ×
 जे वट वृक्षेर तले अद्वैतेर स्थिति ।
 सबैत्र हईल से अद्वैत वट कथाति ॥

ए अद्वैत वट दृष्टे सर्वपाप हय ।
 परम दुर्लभ प्रेमभक्ति लभ्य हय ॥
 × × × ×
 यमुना प्लावित ओइ वंशीवट स्थान ।
 वंशीवट जमुनाय हैला अन्तर्धान ॥
 तार एक बाल आनि गोस्वामी आपने ।
 करिजा स्थापन ए पूर्वेर सन्निधाने ॥

इत्यादि अनेकानेक अकाष्ट्य और स्पष्ट प्रमाणोंके
 विद्यमान रहने हुए भी लेखकने श्रीचैतन्यमहाप्रभुका
 चुन्दावन आगमन अस्वीकार किया है—यह बड़े
 आश्चर्य की बात है ।

आपने लिखा है—“सेवाकुंज, रासभण्डल,
 शृंगारवट, वंशीवट, धीरसमीर, मानसरोवर, हिएडो-
 लस्थान आदि लीला-स्थालियोंको प्रकट करनेका श्रेय
 हिताचार्य महाप्रभुको ही है । इन लीला स्थलियोंपर
 तबसे आजतक राधा-वल्लभीय सम्प्रदायका अधिकार
 चला आ रहा है ।”

उपर्युक्त मन्तव्य सम्पूर्ण निराधार और कल्प-
 नाभय है । जो स्थान जिसके अधिकारमें है, वह स्थान
 उसी सम्प्रदायके आचार्यद्वारा प्रकटित है—ऐसा
 सिद्धान्त अयुक्ति-संगत और भ्रमपूर्ण है । मानो,
 इन्द्र स्वर्गका राजा है, स्वर्ग उसके अधिकारमें है;
 इसलिये वह स्वर्गका रक्षियता भी है—ऐसा कुसिद्धान्त
 आप नहीं कर सकते । चाहिये पारम्परिक सत्य ऐतिहा-
 सिक प्रमाण अथवा प्राचीन शिलालेख आदि । प्राचीन
 प्रमाणोंके अभावमें आपकी कौन मानता है । घरके
 कोनेमें बैठकर त्रिभुवनका अधीश्वर बन जाना
 हास्यास्पद होता है । शृंगारवट आदि तीनों स्थान
 राधावल्लभियोंके हाथोंमें रहनेके कारण हरिवंशजी
 द्वारा प्रकटित हैं, और पीछेसे अन्य सम्प्रदायके हाथोंमें
 विक गये—यह सब सम्पूर्ण निराधार युक्ति-विरुद्ध
 एवं कल्पनाप्रसूत वितण्डापूर्ण उक्ति है ।

हिताचार्यजीको चुन्दावनके त्रिभुवन, धीरसमीर
 और रासस्थली आदि स्थानोंसे मानसरोवर अधिक
 प्रिय था—ऐसी मान्यता भी गलत है । क्योंकि मान-

सरोवर तो प्रिया-प्रियतमकी मानलीलाकी सूचना देता है, जो हिताचार्यका मनोनुकूल भजन नहीं है। राधावल्लभियोंने मिलनको ही महत्व दिया है, ऐसी दशामें हिताचार्यजी मिलनसूचक निधुवन, धीरसमीर, और रासस्थली आदि लीलास्थलियोंको छोड़ कर मानसरोवरमें ही क्यों रहने लगे ? यह स्थान उनको क्यों सर्वाधिक प्रिय बन गया ? लेखकने और भी लिखा है कि—'यह स्थान प्राकट्यकर्त्ता श्रीहिताचार्य महाप्रभुको सर्वाधिक प्रिय था। यहाँ पर गोपालन्वाल, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीजी तथा नाहारमल्लजीको अलौकिक चमत्कारोंके दर्शन हुए थे। राधा-वल्लभी साधुओंके आधिपत्यमें यहाँकी सेवा-पूजा होती है।' (आजकल नहीं)

किसी भी प्राचीन इतिहासमें श्रीप्रबोधानन्दको मानसरोवरमें अलौकिक चमत्कार दर्शन होनेका उल्लेख नहीं है। प्रबोधानन्दजी तो श्रीमन्महाप्रभु गौरांगदेवके अंतरंग पार्षद और मध्वगौड़ीय सम्प्रदायके महान् आचार्य माने जाते हैं। किसी गौड़ीय आचार्यने मानसरोवरमें उनके चमत्कार दर्शनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। 'भगवन्त मुदित'के नामसे प्रचारित 'रसिकअनन्यमाल' नामक एक पुस्तकमें श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वतीकी नानाप्रकारसे अपकर्षता और हितहरिवंशकी उत्कर्षता दिखलायी गयी है। उक्त ग्रन्थमें ऐसा लिखा गया है कि प्रबोधानन्दजी श्रीचैतन्यदेवका शिष्यत्व परित्याग कर हरिवंशजीके शिष्य हो गये थे। हम इस पर इतना ही कह सकते हैं कि इस प्रकार अपसिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके कारण तथा असम्बद्ध उक्तियोंके कारण उक्त ग्रन्थ अप्रामाणिक और सर्वथा त्रास्य ठहरता है।

हमको सबसे अधिक आश्चर्य तो लेखक महोदय

द्वारा 'महाप्रभु'—शब्दके प्रयोगपर हो रहा है। लेखकने 'महाप्रभु'—शब्दका प्रयोग मनमाने ढंगसे किया है। जहाँ 'महाप्रभु'—शब्दका प्रयोग उचित है तथा जहाँ 'महाप्रभु'—शब्द रुद्धवृत्तिमें प्रयोज्य होता है, उन महाप्रभु गौरांगदेवमें 'महाप्रभु' शब्दको न जोड़कर अनावश्यक रूपमें हरिवंशजीके लिये उसका बार-बार प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है। इसे प्रसिद्ध 'हानिदोष' कहा जाता है, अर्थात् जो शब्द जिसमें प्रयोगके लिये प्रसिद्ध है, वहाँ उस शब्दको न देकर अन्यत्र जोड़ देना, यह प्रसिद्ध 'हानिदोष' है। जैसे, हरिवंशजीके लिये 'हित'—शब्दका प्रयोग होता है; अब यदि कोई 'हित'—शब्द श्रीवल्लभाचार्य या श्रीनिम्बार्काचार्य अथवा अन्य किसीके साथ जोड़ दे, तो यह प्रयोग गलत और सिद्धान्त-विरुद्ध है। श्रीगौरांगदेवके लिये 'महाप्रभु'—शब्दका प्रयोग सर्व-सिद्ध और इतिहास प्रसिद्ध है। यदि गौरांगदेवके अतिरिक्त दूसरे किसी व्यक्ति या आचार्यके लिये 'महाप्रभु' शब्दका कोई प्रयोग करे, तो उसका ऐसा प्रयोग सिद्धान्त-विरुद्ध माना जायगा। लेखकने यही किया है। क्या लेखकके घरमें कोई और कोई शब्द नहीं था, जिससे आपने श्रीगौरांगदेवके लिये प्रयोगमें आनेवाले 'महाप्रभु'—शब्दकी चोरी की ? ❀ यही चोरी वल्लभ-सम्प्रदायके महानुभावोंने भी की है। वे लोग भी 'महाप्रभु'—शब्दको चुराकर श्रीवल्लभाचार्यके लिये प्रयोग करने लगे हैं।

ब्रजभारतीमें 'किशोरीशरण अलि' ने 'इमली वृत्त' के सम्बन्धमें बड़ा व्यंग किया है। इससे आपकी चित्तधृतिका पता चल जाता है। कृष्ण-कालका इमलीवृत्त आज भी विद्यमान है—इस विषयमें वितण्डा क्यों किया जाता है ? आपने लिखा है—हिताचार्य

❀ [नोट—यहाँ पर यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि—श्रीरूप गौस्वामीके अनुगत श्रीमाधुरी दासजी द्वारा रचित 'माधुरीवाणी' को भी राधावल्लभोंके अन्तर्भूत सिद्ध करनेके लिये उससेसे श्रीमन्महाप्रभु गौरांगदेवके वन्दनात्मक मंगलाचरणको हटाकर उसकी जगह "श्रीहरिवंश स्वरूपको मनोवच करौ प्रणाम" ऐसा लिखकर छः माधुरियों से 'उत्कंठा माधुरी' का प्रकाशन किया गया है। वहाँ मूल पाठ "श्रीचैतन्य स्वरूपको मन वच करौ प्रणाम" है। यह बड़े खेदकी बात है। साहित्य-प्रेमी इस विषयमें अवश्य ध्यान देंगे। उक्त 'उत्कंठा-माधुरी' वृन्दावनसे छपी है। अब भी छिपा-छिपाकर उसका वितरण होता है।

महाप्रभुके वृन्दावनमें स्थायी रूपमें बस जानेके पश्चात् भारतके प्रत्येक प्रदेशके निवासियोंका आगमन प्रारम्भ हो गया। तब बाहरके समागत व्यक्तियोंद्वारा लाये गये हमलीके बीज वहाँ गिर पड़े और कालान्तरमें वही बीज विशालकाय वृक्ष तैयार हो गया। इत्यादि।

लेखकने अपनी गवेषणात्मक बुद्धिका परिचय देनेके लिये ऐसा व्यंग तो कर डाला है, परन्तु कुछ सोच-विचार नहीं किया कि इस व्यंगसे हिताचार्य हरिवंशजीकी ही अप्रसिद्धि होती है। लेखकको ऐसा कहना उचित था कि हिताचार्यके वृन्दावनमें बस जाने पर वहाँके समस्त वृक्ष रसमय हो गये; परन्तु आपने ऐसा न लिखकर 'हमलीवृक्ष' पर व्यंग किया है। वृन्दावनके समस्त वृक्ष तो कल्पवृक्ष माने जाते हैं। वृन्दावनके हमलीवृक्ष कल्पवृक्ष नहीं हैं—क्या आप ऐसा कह सकते हैं? इसके अतिरिक्त क्या आप यह सिद्ध कर सकते हैं कि हरिवंशजीके पहले वृन्दावन में हमलीके वृक्ष नहीं थे? जड़-बुद्धिसम्पन्न मेरे लेखक महोदयको इतना भी पता नहीं है कि प्राकृत-सृष्टिमें वृक्ष-लता आदि वस्तुओंका ऊँच-नीच भेदभाव देखा जा सकता है; परन्तु अप्राकृत भगवद्दाममें विशेषतः ब्रजभूमिकी वस्तुओंमें इस प्रकारकी भेदबुद्धि सर्वथा अनुचित और ऊपराधमय है। हाँ, साधारण बद्ध-जीव साधारण दृष्टिसे यदि ऐसा कहें, तो उसपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। परन्तु ब्रजभूमिके उपासकके रूपमें अपना परिचय प्रदान करनेवाले वैष्णव रसिक सज्जनोंको ऐसा भेद-भाव रखना शोभा नहीं देता। जब ब्रजके एक-एक करीलके ऊपर फोटि कल्पवृक्ष चारि डारों—ऐसे ऐसे महानुभावोंके सैकड़ों वचन दिखमान हैं, और उन वचनोंको देख सुनकर भी यदि हम भेद-बुद्धि करते हैं, तब हम ब्रजके उपासक नहीं माने जा सकते हैं।

आपने पृष्ठ ४२ में लिखा है—'श्रीरूप-सनातन वि. संवत् १५७२-७३ में ब्रज आये, उनसे १० या ५ दिन पूर्व आये हुए सुबुद्धि रायने रूप-सनातन दोनोंको द्वादश वनोंके दर्शन कराये।' इत्यादि।

अस्तु, यदि ऐसा ही है, तो आपने पृष्ठ ४३ में

जो लिखा है कि "वि० संवत् १५६० कार्तिक सु० १३ हरिवंशजीका शुभागमन हुआ और तब वृन्दावनके लीलास्थलोंका प्राकट्य हुआ, जो वस्तुतः अबतक लुप्त थे"—इसका समाधान किस प्रकार आप करेंगे? क्या आप 'वृन्दावन' को द्वादश वनोंके अन्तर्गत नहीं मानते? 'वृन्दावन' द्वादश वनोंमें ही एक सर्वोत्तम वन है—यह शास्त्र-संगत और सर्वमान्य तथ्य है। जब १५६० वि० संवत्से पहले वृन्दावन प्रकाशित नहीं था, तो सुबुद्धि रायने १५७२ या १५७३ संवत्में श्रीरूपसनातनको द्वादश वनोंके दर्शन कैसे कराये? यहाँ लेखक महोदय जरा चूक गये हैं; उन्हें यहाँ पर 'एकादश वनोंके दर्शन कराये'—शायद ऐसा लिखना चाहिए था।

आपने पृष्ठ ३६ में लिखा है—'वि० संवत् १५७२ में श्रीचैतन्यका आगमन हुआ। वे दस मास रह कर यहाँके वन-उपवनोंके लीलास्थलोंके दर्शन किये। अक्रुर पर खड़े होकर उन्होंने लता-पुंजीभूत-पंचकोसी वृन्दावनके भी दर्शन किये।' इत्यादि। ऐसी-ऐसी असम्बद्ध (परस्पर विरोधी या मेल नरखनेवाली) उक्ति-योंका सामंजस्य दिखलाना आप अपक्व लेखक महोदयके लिये कठिन ही नहीं, असंभव होगा। जरा सोच-विचारकर लिखना अच्छा होता। आप ही बतलाईये, जब १५६० वि० संवत्में हरिवंशजी द्वारा वृन्दावनका प्राकट्य हुआ, तब १५७२ संवत्में श्रीगौरांग महा-प्रभुजीने वृन्दावनके दर्शन कैसे किये? आपके विचारसे उस समय (हरिवंशजीके वृन्दावनमें आगमनसे अट्ठारह वर्ष पूर्व) तो वृन्दावनका नाम-निशाना तक भी नहीं था। यदि कहोगे कि वृन्दावन तो था, परन्तु यहाँके लीलास्थलोंका प्राकट्य नहीं हुआ था और वे सर्वज्ञ भगवान् हैं, अक्रुर घाटमें खड़े होकर ही लता-पुंजीभूत वृन्दावनका दर्शन कर सकते हैं, तो हम यह कहेंगे कि वे सर्वज्ञ भगवान् सर्व शक्तिमान भी तो हैं। वे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ भगवान् हिताचार्यके वृन्दावन आगमनसे पहले भी वृन्दावनके लुप्तप्राय लीलास्थलोंको पुनः प्रकट करनेकी लीला कर सकते हैं—इसमें संदेह ही क्या है?

श्रीश्रीअद्वैत-तत्त्व

वन्दे तं श्रीमद्वैताचार्यमद्भुतर्षेष्ठितम् ।
यस्य प्रसादाद्जोऽपि तत्स्वरूपं निरूपयेत् ॥
(चैतन्यचरितामृतम् भा० १।१)

जिनकी कृपासे अज्ञ व्यक्ति भी मूल तत्त्ववस्तु श्रीमन्महाप्रभुका स्वरूप निरूपण कर पाते हैं, उन परम अद्भुत चेष्टाविशिष्ट श्रीअद्वैताचार्यकी मैं वन्दना करता हूँ । इन अद्वैताचार्यका तत्त्व निरूपण करते हुए श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी श्रीस्वरूप गोस्वामीके कदचसे निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

महाविष्णुर्जगत्कर्ता मायाया यः सृजत्यदः ।
तस्यावतार एवायमद्वैताचार्य ईश्वरः ॥
अद्वैतं हरिनाद्वैतादाचार्यं भक्ति शंसनात् ।
भक्तावतारमीशं तमद्वैताचार्यमाश्रये ॥

—जो महाविष्णु मायाद्वारा इस जगत्की रचना करते हैं, वे जगत्कर्ता हैं; अद्वैताचार्य उन्हीं महाविष्णुके अवतार हैं । हरिसे अभिन्न तत्त्व होने के कारण उनका नाम 'अद्वैत' है तथा भक्ति-शिक्षा प्रदान करनेके कारण वे 'आचार्य' कहलाते हैं, उन (जगत्कर्ता होने पर भी) भक्तावतार (स्वीकार करनेवाले) श्रीअद्वैताचार्य-ईश्वरकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।

श्रीअद्वैताचार्य साक्षात् ईश्वर तत्त्व हैं । जीव के लिये उनकी महिमा अगोचर है । ये उन महाविष्णुके या पुरुषके अंश या अवतार हैं, जो माया द्वारा अनन्त कोटि विश्व-ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं, उनको धारण करते हैं । एवं स्वेच्छासे अनन्त मूर्ति प्रकाश कर एक-एक मूर्तिसे एक-एक ब्रह्माण्डमें प्रवेश करते हैं । इन अद्वैताचार्य और जगत्कर्तामें कोई भेद नहीं है । केवल शरीरसे ही विशेषता है ।

श्रीअद्वैत प्रभु प्रधान (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) को लेकर महाविष्णुकी सहायता करते हैं । ये जगत् के मंगलके कारण है, स्वयं मंगलमय हैं तथा समस्त सद्गुणोंके भण्डार हैं । उनका चरित्र मंगलमय है । उनका एक नाम 'मंगल' भी है ।

पुरुष अर्थात् महाविष्णु करोड़ों अंशों, करोड़ों शक्तियों, करोड़ों अवतारों एवं असंख्य वैभवको लेकर सारे संसारका सृजन करते हैं । मायाकी दो बक्तियाँ हैं—निमित्त और उपादान; जिसमें एक ही माया उपादानवृत्तिमें 'प्रधान' कहलाती है और निमित्तवृत्तिमें 'माया' । महाविष्णु भी मायाकी इन दो वृत्तियों में दो रूपोंमें विराजमान हैं । महाविष्णु एक रूपमें 'प्रकृतिस्थ' होकर जगत्के निमित्त कारण हैं, इस रूपका नाम विष्णु है तथा दूसरे रूपमें 'प्रधानस्थ' होने पर वे अद्वैत हैं । वे निमित्त अंशसे मायाके प्रति ईक्षण (दृष्टि) करते हैं तथा अद्वैतरूपमें उपादान होकर ब्रह्माण्डका सृजन करते हैं । सांख्यमतमें प्रधान (प्रकृति) को सृष्टिका कारण बतलाया गया है । परन्तु यह मत समीचीन नहीं है । क्योंकि प्रकृति जड़ है । इसमें पुरुषकी सहायताके बिना स्वतन्त्ररूपमें जगत् सृष्टि करनेकी शक्ति नहीं है । पुरुष जब अपनी सृष्टि-शक्तिका जहा-प्रकृतिमें संचार करते हैं, तभी प्रकृति सृष्टि-कार्य सम्पन्न करती है ।

श्रीअद्वैत प्रभुकी दो मूर्तियाँ हैं । एक मूर्तिमें वे करोड़ों ब्रह्माण्डोंका सृजन करते हैं और दूसरीमें वे ब्रह्माण्डोंका भरण-पोषण करते हैं । श्रीचैतन्य-चरितामृतमें श्रीकविराज गोस्वामीके वर्णनके अनुसार देखा जा रहा है कि श्रीअद्वैताचार्य प्रभु महाविष्णुके अवतार हैं तथा साक्षात् परतत्त्वका अंग या अंश होनेके कारण एक ही तत्त्व-वस्तु हैं । अतः

वे अद्वैत हैं। कोई-कोई श्रील कविराज गोस्वामीके उक्त प्रमाणों पर सन्देह कर सकते हैं, ऐसी आशंका करके उक्त सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये उन्होंने जो युक्तियाँ प्रदर्शन की हैं, उन्हें हम पाठकोंकी जानकारी और स्थिर-सिद्धान्तके लिये नीचे दिखला रहे हैं—

धर्म जगत्में प्रयोजन तत्त्वके विचारसे विभिन्न ऋषियोंने भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें पाँच प्रकारकी मुक्तियों का उल्लेख किया है। वे मुक्तियाँ हैं—सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सर्पि और सायुज्य। इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमें सायुज्य मुक्तिकी असंभवता और अयौक्तिकता तथा हेयता उपलब्धि कर भक्ति साधक या सिद्धोंने सायुज्य मुक्तिको सर्वतोभावेन सरक तुल्य समझकर परित्याग किया है। दूसरी-दूसरी चार प्रकारकी मुक्तियाँ भगवत् सेवाके अतुकूल होनेकी संभावनाके कारण कोई-कोई भक्त इन चार प्रकारकी मुक्तियोंमें से किसी एकको अथवा दो को या चारोंको स्वीकार किये हैं या स्वीकार करते हैं। क्योंकि सालोक्य द्वारा भगवान्के लोकमें वास; सारूप्यमें भगवान्सा परम सुन्दर रूप, सामीप्यमें भगवान्के निकट वास एवं 'योग्येन युज्येन युज्यते'—न्यायानुसार भगवान् जैसा गुण-सम्पन्न स्वरूपता लाभ किया करते हैं। ये चार प्रकारकी मुक्तियाँ साधन द्वारा सिद्ध होती हैं। और कोई-कोई वैष्णव इन्हें प्रहण किया करते हैं।

यहाँ वक्तव्य यह है कि यदि (सायुज्यके अतिरिक्त) उक्त चतुर्विध मुक्तियाँ एक ही व्यक्तित्वमें दृष्ट होती हैं, तो उस व्यक्तित्व या वैष्णवको परतत्त्वका सर्वतोभावेन अंग अथवा अंश या अद्वैत स्वरूप कहनेमें कोई बाधा नहीं है। श्रील कविराज गोस्वामीके कथनका यह तात्पर्य है कि यदि साधारण अणुचैतन्य जीवको भी ऐसी अवस्था प्राप्त करनेमें कोई अड़चन नहीं है, तब श्रीअद्वैत प्रभुके लिये—अर्थात् जो स्वयं महाविष्णुके अवतार हैं—अङ्गांगी अंशांशी भेद-शून्यता कैमुत्य न्यायानुसार साधित हो रही है। अतएव यहाँ पर संशय या तर्कका तनिक भी स्थान नहीं है।

अद्वैताचार्य ईश्वरके अंशवर्त्य हैं। इसलिये उनका तत्त्व और उनका नाम गुण आदि सब कुछ विलक्षण है। उन्होंने जगत्की दुर्दशा देखकर तुलसी और गङ्गाजलसे भगवान्का आह्वान किया था। उन्हींके ऐकान्तिक आह्वानसे श्रीकृष्णचैतन्य भगवान् अपने अङ्ग-उपाङ्ग अस्त्र और पार्षदोंके साथ अवतीर्ण हुए थे। श्रीकृष्णचैतन्यदेवने अद्वैताचार्यके द्वारा ही हरि संकीर्तनका प्रचार कर जगत्का उद्धार किया। आचार्य गोसांईके गुण और उनकी महिमा अपार है। छुद्रजीव किस प्रकार उनकी महिमाका पार पा सकता है। श्रीगौर भगवान्के दो मुख्य अङ्ग हैं—एक श्रीनित्यानन्द प्रभु और दूसरे श्रीअद्वैत प्रभु। श्रीवास आदि भक्तजन महाप्रभुके उपाङ्ग हैं—हस्त, मुख, नेत्र आदि। इन सब को लेकर श्रीमन्महाप्रभुजी विहार करते हैं तथा अपना मनोभिष्ट पूर्ण करते हैं। श्री-अद्वैत प्रभु श्रीमाधवेन्द्र पुरीपादके शिष्य हैं एवं उनके गुरु भाई ईश्वर पुरी श्रीमन्महाप्रभुके गुरु हैं। वास्तवमें श्रीचैतन्यदेव सर्वेश्वरेश्वर हैं एवं अद्वैत प्रभु उनके दास हैं। इस सम्बन्धसे अद्वैत प्रभु अपने-को श्रीचैतन्यदेवका दास अभिमान करते हैं। लौकिक लीलामें मर्यादाकी रक्षा करना कर्तव्य होता है। इसलिये श्रीअद्वैतप्रभुके प्रति श्रीमन्महाप्रभु गुरु तुल्य सम्मानपूर्ण व्यवहार करते हैं तथा स्तुति-भक्ति द्वारा द्वारा उनके चरणोंकी बन्दना भी करते हैं। परन्तु अद्वैतप्रभु श्रीचैतन्य प्रभुमें सर्वदा ईश्वर बुद्धि रखते हैं। अपनेको उनका सेवक समझते हैं और इसी दास-अभिमान सुखमें सर्वदा मग्न रहते हैं तथा जीवमात्रको 'कृष्णदासत्व प्रहण करो' की शिक्षा प्रदान करते हैं। इसका कारण यह है कि कृष्णदास-अभिमानमें जो असीम आनन्द समुद्र लहराता है उसकी एक बूँदकी समता कोटि-कोटि ब्रह्म-सुख नहीं कर सकता। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस अभेद-बुद्धि रूप दंभमें जो सुख कल्पित होता है, उसे ब्रह्म-सुख कहते हैं। दूसरी तरफ 'मैं कृष्णदास हूँ', मैं चैतन्यदास हूँ'—इस दास बुद्धिसे जो नित्य सेवा-सुख प्राप्त होता है उस अशकृत सुखकी त्रिजगतमें कहीं भी

कोई तुलना नहीं है । इस दास-सुखके लिये स्वयं नित्यानन्द प्रभु और श्रीअद्वैताचार्य प्रभु भी जो श्रीकृष्ण या श्रीचैतन्यदेवसे अभिन्न तत्त्व हैं, अपनेमें चैतन्यदासकी भावना करते हैं । विष्णुपार्षदगण तथा ब्रह्मा, शेष, शिव, नारद, शुक्र और सनत्कुमार आदि सभी दास्य भावमें मग्न रहते हैं । श्रीवास, हरिदास, गदाधर, मुरारि, मुकुन्द, चन्द्रशेखर, बक्रेश्वर आदि प्रकाण्ड २ विद्वान् सभी गौरदास हैं ।

एकला ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य ।

यारे जैछे नाचाप, से तैछै करे नस्य ॥

(चैतन्यचरितामृत)

इस प्रकार श्रीचैतन्यदेव ही एकमात्र सर्वेश्वरेश्वर हैं और बाकी सभी इनके दास हैं । उपरोक्त सभी दासगण जीवमात्रको गौर-दासत्व वरण करनेके लिये उपदेश देते हैं तथा उनको गौरदास्य रूप आनन्द-सुधा पान करा कर उन्मत्त बना देते हैं ।

—श्रीसुशील कुमार त्रिपाठी, एम० ए०

श्रीश्रीब्रजमण्डलकी परिक्रमा

पिछले वर्षोंकी तरह इस वर्ष भी श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने समितिके प्रतिष्ठाता एवं आचार्य-परमहंसकुल-मुकुटमणि १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान-केशव गोस्वामी महाराजके आनुगत्यमें कार्तिक व्रत पालनके उपलक्ष्यमें श्रीश्रीब्रजमण्डलकी परिक्रमा और श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारीजीका अन्नकूट महोत्सव खूब समारोहसे मनाया है । गत २८ अक्टूबर, मङ्गलवार को दून एक्सप्रेस द्वारा हावड़ासे यात्रा कर रास्तेमें गया, काशी और प्रयाग आदि तीर्थोंका विधिवत दर्शन कर यात्रियोंका दल २ नवम्बर, रविवारको श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरामें उपस्थित हुआ । श्रीमठमें एक दिन विश्राम करनेके बाद मङ्गलवारसे परिक्रमाका कार्य-क्रम प्रारम्भ किया गया । गोवर्द्धन, काम्यवन, नन्दग्राम, गोकुल आदि दूरके स्थानोंकी यात्रा मोटर बसोंके द्वारा हुई । इस वर्ष मथुरा अञ्चलमें बाढ़का प्रबल प्रकोप होनेके कारण बहुतसे स्थानोंकी परिक्रमामें यात्रियोंको कुछ कष्ट भेलने पड़े । परन्तु भगवत् धाम-दर्शनकी तीव्र लालसा के सामने वे कष्ट नगण्य प्रतीत हुए ।

प्रतिदिन श्रीविग्रहोंकी सेवा-पूजा श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंके प्रवचन, संकीर्तन, वेद-वेदान्त, पुराण आदिके परंगत बड़े-बड़े विद्वानों और साधु-

संन्यासियोंके तात्त्विक और सारगर्भित भाषण तथा धाम परिक्रमाका कार्य-क्रम नियमित रूपसे अनुष्ठित हुआ है । त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्ति जीवन जनार्दन महाराज, त्रिदण्ड स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराज, त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज आदि संन्यासियोंके श्रीमद्भागवत, बृहद्-भागवतामृत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि शुद्ध भक्ति-ग्रन्थोंके प्रवचनों और भाषणोंको सुनकर यात्री-गण मुग्ध हो पड़ते तथा अपने जीवनको धन्य मानते। सर्वोपरि आचार्यदेव अपने तात्त्विक, सारगर्भित दार्शनिक भाषणोंमें भक्त, भक्ति और भगवान् सम्बन्धी तत्त्वोंका ऐसा सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करते कि श्रीत्रिमण्डली ठगी सी रह जाती ।

गोवर्द्धन-पूजा और अन्नकूट महोत्सव

इस अनुष्ठानके अन्तर्गत श्रीगोवर्द्धन पूजा-अन्नकूट महोत्सव और श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजका तिरोभाव महोत्सव खूब समारोहके साथ मनाये गये हैं ।

पिछले वर्षोंकी तरह इस वर्ष भी गत २६ कार्तिक, १२ नवम्बर, मङ्गलवारको समितिके प्रचार-केन्द्र श्रीधाम मथुराके श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें श्रीश्री-

अन्नकूटका महोत्सव विराट रूपमें सुसम्पन्न हुआ है। कुछ दिन पहलेसे ही समितिके सेवकवन्द महोत्सवके उपकरणोंके संग्रह और नाना-प्रकारकी अन्य तैयारियोंमें जुट गये थे। श्रीमन्दिर और मठ-गृह रङ्ग-विरंगी पाताकाओं और बन्दनवारोंसे सुसज्जित किये गये थे। वैशुतिक आलोक-मालाएँ श्रीमन्दिर और मठ गृहके सौन्दर्यको चतुर्दिक विखेर रही थी। मन्दिरसे लगा हुआ हाल घर अतीव मनोरम लग रहा था। दिवालों पर चारों तरफ गुरुवर्गोंके बड़े-बड़े तैलचित्र सुन्दर-सुन्दर पुष्प-मालाओंसे भूषित थे। श्रीश्रीगिरिधारीजीके सिंहासन के निकट मठके तरुण सेवकोंने बड़ी निपुणतासे श्रीगोवर्द्धन पर्वत, श्रीगोवर्द्धन-परिक्रमाका राजपथ, उस पर नाना प्रकारके यान-वाहनों, पैदल और साष्टांग परिक्रमा देने वाले यात्रियों, राधाकुरुड, श्यामकुरुड आदिके सुन्दर दृश्योंकी अवतारणाकी गयी थी। इन दृश्योंको देखकर ऐसा लगता था कि श्रीश्री गिरिधारीजी अपने सम्पूर्ण अप्राकृत ऐश्वर्यको प्रकाश कर साक्षात् रूपमें विराजमान हैं, और वृन्दादेवीसे घिरे हुए वे अपने सामने परोसे गये राशि-राशि लड्डू, पूड़ी, कचौड़ी, अन्न, नाना-प्रकारके व्यञ्जन, अगणित प्रकारकी मिठाइयों और तरह तरहके भोज्य-पदार्थोंको परम प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हुए भक्तोंके ऊपर अपार कृपाकर रहे हैं। राजभोगके समय शंख, घंटा, मृदंग,

मजीरा आदिके साथ विराट संकीर्तनका तुमुल नाद आकाशमें व्याप्त होने लगा था। 'जय गिरिराज गोवर्द्धन महाराजकी जयसे' दिशाएँ गूँजने लगी थीं।

इस महदनुष्ठानमें मथुराके समस्त शिक्षित और संभ्रान्त व्यक्तियोंको निमंत्रित किया गया था। उनमेंसे अधिकांश लोगोंने इसमें योगदान किया था। पर-माराध्यतम श्रीश्री आचार्यदेवके निकट नाना प्रकारके प्रश्नोंका समाधान तथा सदुत्तर सुनकर सभीने आनन्द प्रकाश किये थे। मथुरा जिलाके माननीय सवजज महोदय उस दिन योगदान न दे सकने के कारण उसवके एक दिन बाद मठमें पधारकर अनेक देर तक वेदान्तके सम्बन्धमें श्रीश्रीगुरुमहाराजसे चर्चा किये। माननीय जज साहेब वेदान्तके एक बड़े पण्डित हैं तथा शंकर भाष्यके विरोध अभिज्ञ व्यक्ति हैं। श्रीगुरुदेवके निकट वैष्णव सिद्धान्त तथा सर्वोपरि श्रीमन्महाप्रभुके अचिन्त्यभेदाभेद-विचारकी सुशुक्तियोंका अवणकर वे बड़े प्रसन्न हुए और आचार्यदेवको प्रशंसा करने लगे।

स्थानीय लोगोंका सहयोग स्तुत्य था। श्रीश्री अन्नकूटके अवसर पर उपस्थित हजारों भद्दालु जनता तथा साधु-संतोंको श्रीश्री अन्नकूटका प्रसाद वितरण किया गया।

—प्रकाशक

हरिनाममें कैसे रुचि हो --

स्यात् कृष्णनाम चरितादि-सिताप्य विद्या-पित्तोपतप्त-रसनस्य न रोचिका तु ।
किरवादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा स्वादी क्रमद्भवति तद्गदमूलहन्त्री ॥

अहो ! जिनकी जीह्वाका स्याद अविद्यारूपी पित्तसे बिगड़ा हुआ है, उन्हें कृष्णनाम और उनकी लीला आदिका गान रूप मिश्री मीठी नहीं लगती। परन्तु उसी मिश्रीका आदरपूर्वक (अप्राकृत बुद्धिके साथ) प्रतिदिन सेवन किया जाय तो क्रमशः वह निश्चय ही मीठी लगने लगेगी और पित्तरूप अविद्या भी समूल ध्वंश हो जायगी।

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुरका विरह-महोत्सव

जगद्गुरु श्रील प्रभुपादकी वार्षिक तिरोभाव-तिथिका महोत्सव श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रधान कार्यालय, प्रधान-प्रचारकेन्द्र और समस्त शाखा मठोंमें प्रत्येक वर्ष नियमानुसार बड़े समारोहसे मनाया जाता है। इस वर्ष भी १४ पौष, ३० दिसम्बर मङ्गलवार को जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरका द्वाविंश-वार्षिक विरह-महोत्सव उक्त समस्त स्थानोंमें बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ है। इस बार समितिके सभापति



आचार्यदेव श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें स्वयं विराजमान रहनेके कारण उनकी अध्यक्षतामें यहाँ पर यह महोत्सव सर्व प्रकारसे सफल रहा है।

उक्त दिन ब्राह्म मुहूर्त्तमें मङ्गलारात्रिकके पश्चात् श्रीहरि गुरु-वैष्णव वन्दना, गुर्वाष्टक, गुरु-परम्परा, और विरह-सूचक कीर्त्तन हुए। उसके पश्चात् प्रभुपादकी पत्रावलीका पारायण हुआ। दो-पहरमें भोग-राग और आरतीके पश्चात् उपस्थित भक्तमण्डलीको महा-प्रसाद वितरण किया गया।

संध्यातिके पश्चात् विरह-सभाका अधिवेशन हुआ। चन्दनचर्चित, सुन्दर-सुन्दर पुष्पकी मालाओंसे भूषित जगद्गुरु श्रीसिद्धान्त सरस्वती आर्चा-आलोक्य-मूर्त्तिमें सभा-मण्डपमें विराजमान होकर उपस्थित भक्तमण्डलीको दर्शन देने लगे। भक्तजनों के ऐकान्तिकी प्रार्थनासे समितिके आचार्यदेव सभापतिका आसन ग्रहण करने पर सभाका कार्य प्रारम्भ हुआ। श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-वन्दना कर 'सुजनाब्जुद-

राधितपाद युगं' और उसके पश्चात् 'श्रीरूप-मञ्जरीपद,' 'जे आनिल प्रेमधन' आदि श्रीप्रभुपादके प्रिय गीति-समूहका कीर्त्तन किया गया। सबके अन्तमें श्रीआचार्य देवने अपने दीक्षान्त भाषणमें अपने स्वभावसुलभ ओजस्विनी भाषामें कृपाकर जो उपदेश प्रदान किये, वे उपदेश-समूह धर्मपिपासु साधकों के लिये आदर्श और कण्ठहार स्वरूप हैं। हम अगले अंकमें उनके भाषणको प्रकाशित करेंगे।

—प्रकाशक

प्रचार-प्रसंग

(क) आसाम-प्रदेश श्रीश्रीआचार्य देव

आसाम प्रदेशीय गौड़ीय भक्तोंके विशेष अनु-रोध पर श्रीश्रीगौड़ीय-वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता और सभापति आचार्य ॐ विष्णुपाद परमहंस स्वामी

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजजी कतिपय ब्रह्म-चारियोंके साथ श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरासे ६ जनवरी १९५६ को यात्राकर ६ जनवरीको समितिके प्रचारकेन्द्र श्रीगोलोकगंज गौड़ीय मठ, आसाममें

पधारे हैं। श्रीश्रीआचा निर्देशानुसार श्रीश्री-
आचार्यदेवके अनुकम्पित तथा समितिके प्रमुख प्रचा-
रक श्रीमद्भक्त वेदान्त त्रिविक्रम महाराज कतिपय
ब्रह्मचारियोंके साथ श्रीगोलोकगंज गौड़ीय मठमें
पहुँच गये थे। त्रिदण्ड स्वामी श्रीमद्भक्त वेदान्त
त्रिविक्रम महाराज पार्टीके साथ ११ जनवरीसे धुवड़ी
के विभिन्न स्थानोंमें श्रीचैतन्य महाप्रभुकी अप्राकृत
वाणीका प्रचार कर रहे हैं।

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके आचरित और
प्रचारित श्रीभागवत धर्म—विशुद्ध भक्तिधर्मका
सर्वत्र प्रचार करनेके उद्देश्यसे ॐ विष्णुपाद परमहंस
परिव्राजकाचार्यवर्य १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति-प्रज्ञान केशव
महाराजजीकी अध्यक्षतामें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके
भारतके भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें बहुतसे प्रचार केन्द्र

स्थापित किये हैं। इसी उद्देश्यसे समितिसे दो वर्ष
पहलेसे आसाम देशीय गौड़ीय भक्तोंके विशेष
अनुरोधसे उक्त प्रदेशके एक प्रसिद्ध स्थान श्रीगोलोक
गंजमें 'श्रीगोलोक गंज गौड़ीय मठ' नामक एक शुद्ध-
भक्ति प्रचार-केन्द्र स्थापित किया है। परन्तु अभी
तक वहाँ पर मन्दिर निर्माणका कार्य पूर्ण न होनेके
कारण श्री श्रीविप्रहोंकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। अब
मन्दिरका कार्य पूरा हो चुका है। अतः आगामी १५
माघ, २६ जनवरी बृहस्पतिवारको श्रीश्रीआचार्यदेव
उपयुक्त मठमें श्रीश्रीगुरुगौरांग-राधाविनोद-विहारी-
जीकी शुभ प्रतिष्ठा करेंगे। इस अनुष्ठानके उपलक्ष्यमें
प्रवचन, कीर्तन, भाषण, महाप्रसाद वितरण एवं
श्रीविप्रहोंकी प्रतिष्ठा सम्बन्धी वैदिक क्रिया आदि
विविध प्रकारके भक्त्यंगोंका पालन किया जायगा।

—निजस्व संवाद

शरणागति

आत्मनिवेदन

[ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तविनोद ठाकुर]

आत्म-निवेदन हो से अपना खोय गया अभिमान ।
नहीं करूँगा अब मैं अपनी रक्षा का सुविधान ॥
अपने धन को आप समझके आपी रख्यो नाथ ।
मुझ गोधन को पास्य समझके रखिये अपने साथ ॥
हे माधव, तुम मुझे चराना श्री जमुना के तीरे ।
वंशी की धुन मधुरी टेरें बोलें धीरे धीरे ॥
अधा-बका को मार करोगे रक्षा का सुविधान ।
सदा-सर्वदा करते रहते तुम गोकुल के कान ॥
रक्षा तुम्हीं करोगे निश्चय ये बातें हैं मानी ।
पान करेंगे हम भी सुख से श्रीजमुना का पानी ॥
विषधर कालिय के दोषों का कर दोगे तुम नाश ।
शोध करोगे जमुना-जल में बड़ा बड़ा के आश ॥
दावानल को पीकर प्रभुजी हठि के मुझे बचाओ ।
तुम ही तो ब्रज में गोपाल और गोविन्द नाम कहाओ ॥
सुरपति की दुर्मति हरने को अपने मन में धार ।
प्रबलवृष्टि में रख्योगे तुम नख पर गिरिवर धार ॥
चतुरानन वन में गोधन की चोरी को जब आवें ।
तब उस संकट में रक्षा कर गोकुल हरिहि बचावें ॥
भक्तिविनोद तुम्हारे ही गोकुल का तो एक धन है ।
रखना केशव, उसे यतन से वह तुम्हारा ही जन है ॥

जैव-धर्म

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ४, संख्या ६, पृष्ठ १४४ से आगे]

‘को ह्येवान्यान् कः प्राण्यान् । यदेव आकाश
आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ॥ (क)

—(तैत्तिरीय उपनिषद्)

‘आनन्द’ प्रीतिका पर्यायवाची शब्द है। जीव-
मात्र आनन्दके लिये चेष्टा करते हैं; मुमुक्षु व्यक्ति
मोक्षको ही आनन्द मानते हैं। इसीलिए वे मोक्षके
लिये पागल होते हैं। भोगी (बुमुक्षु) व्यक्ति विषय-
भोगको आनन्द समझते हैं। इसीलिये वे लोग विषय
भोगोंके पीछे-पीछे ही दौड़ते फिरते हैं। आनन्द
प्राप्तिकी आशा ही उनको उन-उन कार्योंमें प्रवृत्ति
देती है। भक्त भी कृष्ण-सेवानन्दके लिये प्रयत्नशील
हैं। अतएव सभी प्रकारके लोग प्रीतिकी ही
खोज करते हैं; यहाँ तक कि वे प्रीतिके लिये शरीर
तक छोड़नेके लिये प्रस्तुत होते हैं। सिद्धान्त यह है
कि—प्रीति ही सबका मुख्य प्रयोजन है। इसे कोई भी
अस्वीकार नहीं कर सकता। चाहे नास्तिक हो अथवा
आस्तिक, कर्मी हो या ज्ञानी, सकाम हो या निष्काम
—सभी एक मात्र प्रीतिकी ही खोज करते हैं परन्तु
अन्वेषण करने से ही प्रीति मिल जायगी, ऐसी बात
नहीं है।

कर्मवादी स्वर्ग-सुखको प्रीतिप्रद समझते हैं,
परन्तु ‘क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति’ (गीता ६।२१)
(ख) के अनुसार जब स्वर्गसे न्युत होते हैं, तब वे
अपनी भूल समझते हैं। मनुष्यलोकमें धन, पुत्र,
यश और बल पाकर भी उनमें प्रीतिका अभाव देख-
कर पुनः स्वर्ग-सुखकी कल्पना करते हैं; स्वर्गसे अधो-

पतित होते समय वे स्वर्गकी अपेक्षा उन्नत सुखोंकी
ओर सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं।

जब वे जान पाते हैं कि मर्त्यलोक, स्वर्गलोक या
ब्रह्मलोक तकके सारे सुख अस्थायी और अनित्य
हैं, तब वे इन सुखोंसे विरक्त होकर ब्रह्मनिर्वाणके
अनुसंधानमें तत्परतासे लग पड़ते हैं। परन्तु ब्रह्म-
निर्वाणमें भी जब आनन्दका अभाव देखते हैं, तब
वे तटस्थ होकर कोई दूसरा पथ अनुसंधान करते हैं,
जिससे प्रीति या आनन्दको पाया जा सके। निर्भेद-
ब्रह्मनिर्वाणमें आनन्द या प्रीतिकी संभावना कहाँ ?
वहाँ आनन्दका अनुभव करेगा कौन ? जब मेरा ‘मैं’
ही नहीं रहा, तब ब्रह्मको अनुभव कौन करेगा ?
ब्रह्म आनन्द होने पर भी भोक्ताके अभावमें निरर्थक है,
उस दशामें आनन्द है या नहीं—इस विषय-सम्बन्धी
सिद्धान्तका प्रयोजन ही क्या रहा ? ‘मैं’ के नाशके
साथ-साथ मेरा भी अस्तित्व लोप हो गया। मेरा
और रहा ही क्या जिससे सुख या आनन्द है या
नहीं, यह अनुभूत हो सके। मैं नहीं तो कुछ भी
नहीं। यदि यह कहो कि ब्रह्मरूप मैं रहा, तो ऐसा
कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ब्रह्मरूप ‘मैं’ तो नित्य ही
है; उसके लिये साधन और सिद्धि सब कुछ बेकार
है। अतः ब्रह्म-निर्वाणमें प्रीति सिद्ध नहीं है; यदि
है भी तो आकाश-कुसुमकी तरह अनुभूत है।

भक्तिमें ही केवल प्रयोजन-सिद्धि दिखलाई
पड़ती है। भक्तिकी चरमावस्था ही प्रीति है; वही
प्रीति नित्य है। शुद्ध जीव नित्य है, शुद्ध कृष्ण भी

(क) परब्रह्म परमात्मा ही रस-स्वरूप है। जीव उस रस-स्वरूप परब्रह्मको पाकर आनन्दित होता है। हृदयाकाश
में आनन्द-स्वरूप ब्रह्म नहीं रहते, तो कौन जीवित रह सकता ? परमात्मा ही जीवोंको आनन्द प्रदान करते हैं।

(ख) स्वर्गवासीजन विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुरण क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। इस
प्रकार भोगोंकी कामनावाले कर्मीजन आवागमन करते रहते हैं।

नित्य हैं और शुद्ध प्रीति भी नित्य है। अतएव अचिन्त्यभेदाभेद स्वीकृत होनेसे ही प्रेमकी नित्यता सिद्ध होती है, अन्यथा जीवका चरम प्रयोजनरूप प्रीति अनित्य हो पड़ती है तथा उसकी सत्ता भी लुप्त हो पड़ती है। इसलिये समस्त शास्त्रोंमें अचिन्त्य-

(अट्टारहवाँ अध्यायसमाप्त)

जैव-धर्म

उन्नीसवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत अभिधेय-विचार

ब्रजनाथ खा-पीकर विचरने पर लेट गये; उनके हृदयमें अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्वके सम्बन्धमें तरह-तरह के विचार उठने लगे। कभी सोचते-अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व भी एक प्रकारका मायावाद ही है; पुनः गंभीर-रूपसे विचार करने लगते—परन्तु इस मतके विरुद्धमें कोई शास्त्र नहीं है। इसमें समस्त शास्त्रोंकी मीमांसा पायी जाती है। श्रीमद् गौरकिशोर साक्षत् पूर्ण भगवान् हैं। उनकी गंभीर शिक्षाओंमें तनिक भी दोष रहनेकी संभावना नहीं है। मैं उन परम प्रेममय श्रीगौरकिशोरके चरणकमलोंका कदापि परित्याग न करूँगा। किन्तु हाय ! आखिर मैंने पाया क्या ? 'अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व ही सत्य है, इसे तो जो जान-लिया; परन्तु इस ज्ञानसे मुझे लाभ क्या हुआ ? बाबाजीने बतलाया है—'प्रीति ही जीवोंके जीवनका चरम तात्पर्य है ? कर्मी और ज्ञानी भी प्रीतिकी खोज करते हैं; परन्तु शुद्ध प्रीति क्या चीज है, वे नहीं जानते। अतएव प्रीतिकी विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त करना आवश्यक है; अब प्रश्न यह है कि किस उपाय से उसे प्राप्त किया जाय ? बाबाजी महाशयसे इस विषयमें पूछ कर सिद्धान्त ग्रहण करूँगा। इस प्रकार सोचते-सोचते वे सो पड़े।

अधिक रात बीतने पर नींद आनेके कारण ब्रज-

भेदाभेद रूप सत्य-सिद्धान्तकी पुष्टि है। इसके अतिरिक्त सभी वाद केवल मतवाद हैं।'

ब्रजनाथ प्रेम-तत्त्वका चिन्तन करते-करते परमानन्दमें विभोर होकर घर लौटे।

नाथ आज कुछ अधिक देर तक सोते रहे। दिन निकल आया था। विस्तरेसे उठकर अभी शौच आदि से निवृत्त हुए ही थे कि उनके मामा विजय कुमार भट्टाचार्य महाशय उपस्थित हुए। अनेक दिनोंके बाद श्रीमोदद्रुमसे मामाको आए हुए देखकर ब्रजनाथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उनको दण्डवत् प्रणाम कर बड़े आदरसे बैठायें।

विजयकुमार भट्टाचार्य श्रीमद्भागवतके बड़े परिष्ठित और कथाकार हैं। श्रीमन्नारायणीकी कृपासे श्री-गौराङ्गके प्रति उनके हृदयमें बड़ी श्रद्धा अर्पित हुई है। वे बहुत दूर-दूर तक श्रीमद्भागवतका पाठ करने जाया करते हैं। कुछ दिन पहले इन्होंने देनुड़ नामक गाँवमें श्रीवृंदावनदास ठाकुरको दर्शन करनेका सुयोग पाया था। श्रीवृंदावनदास ठाकुर महाशयने उनको श्रीधाम मायापुरके अचिन्त्य योगपीठ दर्शन करनेकी आज्ञा दी थी। उन्होंने और भी कहा था कि, कुछ ही दिनोंमें श्रीमन्महाप्रभुकी लीला-स्थलिय गुप्तप्राय हो पड़ेंगी। और चार सौ वर्षोंके पश्चात् पुनः प्रकटित होंगी। गौर लीला-स्थल, श्रीकृष्ण लीला-स्थल श्रीवृंदावनसे अभिन्न-तत्त्व है। जो श्रीमायापुर का चिन्मयत्व दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं, केवल

वे ही श्रीवृन्दावनका दर्शन कर सकते हैं। व्यासा-वतार वृन्दावनदास ठाकुरकी बातोंको सुनकर विजय-कुमार श्रीमायापुरके दर्शनोंके लिये बड़े व्याकुल हो पड़े। उन्होंने ऐसा स्थिर किया कि वे विल्वपुष्करिणीमें अपनी बहन और भानजेसे मिल कर श्रीमायापुर जायेंगे। उस समय विल्वपुष्करिणी और ब्रह्मपुष्करिणी परस्पर मिले हुए गाँव थे—आजकल जैसा ये दोनों गाँव एक दूसरेसे दूर न थे। श्रीमायापुर योगपीठसे एक मीलके भीतर ही विल्वपुष्करिणीकी सीमा मिलती थी। परित्यक्त विल्वपुष्करिणीको आजकल 'टोटा' और 'तारणवास' के नामसे पुकारते हैं।

परस्पर कुशल जिज्ञासाके पश्चात् विजयकुमार बोले—'मैं श्रीमायापुरका दर्शन कर अभी आ रहा हूँ; दादीसे कह देना कि 'मैं मायापुरसे लौटकर यहीं पर दोपहरमें भोजन करूँगा।'

ब्रजनाथ बोले—'मामा ! आप मायापुरका दर्शन क्यों करेंगे ?'

विजयकुमार ब्रजनाथकी वर्तमान अवस्थासे परिचित न थे। वे सुने थे, ब्रजनाथ आजकल न्याय-शास्त्रका अनुशीलन छोड़कर वेदान्त अध्ययन कर रहे हैं। इसलिये उन्होंने अपने भजनकी बात उनसे कहना उचित नहीं समझा। अतः अपना यथार्थ उद्देश्य उनसे छिपाकर बोले—'मायापुरमें एक आदमीसे भेंट करना है।'

ब्रजनाथको इस बातका पता था कि उनके मामा गौर-भक्त हैं तथा श्रीमद्भागवतके बड़े पण्डित हैं। अतः उन्होंने अनुमान कर लिया कि मामाजी किसी पारमार्थिक अनुसंधानके लिये श्रीमायापुर जा रहे हैं। ऐसा सोचकर वे प्रकट रूपमें बोले—'मामा ! श्री-मायापुरमें श्रीरघुनाथदासजी एक उच्चकोटिके परम श्रद्धास्पद वैष्णव हैं, उनके साथ आप कुछ वार्त्तालाप अवश्य करेंगे।'

ब्रजनाथकी बात सुनकर विजयकुमारने कहा—'क्या तुम अब वैष्णवोंके प्रति श्रद्धा रखने लगे ? सुना था—'तुम न्यायशास्त्रको छोड़कर वेदान्त अध्ययन

कर रहे हो; इधर देख रहा हूँ—तुम भक्तिमार्गमें प्रवेश कर रहे हो। अतएव अब तुम्हारे निकट मेरे छिपानेकी कोई बात नहीं है। बात यह है कि श्रीवृन्दा-वन दास ठाकुर महाशयने मुझे श्रीमायापुरके योग-पीठका दर्शन करनेके लिये आज्ञा दी है। अतः मैंने सोचा है कि—श्रीमायापुरके घाट पर गङ्गास्नान कर श्रीयोगपीठका दर्शन और प्रदक्षिण कर श्रीवास-अंगन में वैष्णवोंकी चरण-धूलिमें एक बार जी भर कर लोदूँगा।'

ब्रजनाथ बोले—'मामा ! कृपया मुझे भी अपने साथ ले चलें। चलिए, माताजीसे पहले मिलकर हम दोनों मायापुर चलेंगे।'

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद दोनों ब्रजनाथकी माताको बतलाकर श्रीमायापुरके लिये रवाना हुए। सबसे पहले दोनोंने गङ्गास्नान किया।

स्नान करते-करते विजयकुमारने कहा—'अहा ! आज मेरा जन्म सार्थक हुआ; जिस घाट पर श्रीशची-नन्दन गौरहरिने जाह्नवीदेवीके प्रति अपार करुणा द्रसाते हुए चौबीस वर्षों तक जल-क्रीड़ा किया है, परम दुर्लभ उसी जलमें स्नान कर आज मुझे परम सुख अनुभव हो रहा है।'

विजयकुमारके उद्दीपनमय वचनोंको सुन कर ब्रज-नाथ आर्द्र होकर बोले—'मामा ! आज आपके चरणोंकी कृपासे मैं भी धन्य हो गया।'

स्नान करनेके पश्चात् दोनों श्रीजगन्नाथ मिश्रके मघनमें (श्रीमहाप्रभुके जन्मस्थानमें) पहुँचकर महा-प्रेममें विभोर हो गये। अभ्रजलसे उनका सारा शरीर तर-बतर हो गया।'

विजयकुमार बोले—'जिसमें गौड़ भूमिमें जन्म लेकर हम महायोगपीठका दर्शन नहीं किया, उसका जन्म व्यर्थ ही गया। देखो, देखो, जड़ नेत्रोंसे यह भूमि साधारणसी दीख रही है और सर्वात्र फूसके धरे ही दीख पड़ते हैं; किन्तु श्रीगौरांग की कृपासे आज हमलोग क्या ही वैभव देख रहे हैं।—देखो ! कितनी ऊँची और सुन्दर रत्नमय अट्टालिकाएँ हैं; क्या ही रमणीय उद्यान हैं; बन्दनवारों की शोभा तो

देखते ही बनती है। यह देखो, घरके भीतर श्रीगौरांगविष्णुप्रियाजी खड़े हैं। क्या ही मनोहर रूप है! क्या ही मनोहर रूप है !!

ऐसा कहते कहते दोनों अचेतन होकर गिर पड़े। बहुत देर बाद दूसरे-दूसरे भक्तोंकी सहायतासे उठकर श्रीवास-अंगनमें प्रविष्ट हुए। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। दोनों श्रीवास-अंगनमें लोट-पलोट करते हुए कहने लगे—‘हा श्रीवास! हा अद्वैत! हा नित्यानन्द! हा गदाधर-गौरांग! तुमलोग हमपर दया करो—हमें अभिमानरहित कर अपने चरणोंमें प्रहण करो।’

इन दोनों ब्राह्मणोंका ऐसा भाव देखकर वहाँके वैष्णवगण बड़े आनन्दित हुए और ‘मायापुरचन्द्रकी जय! अजित गौरांगकी जय!! नित्यानन्द प्रभुकी जय!!! बोलकर नृत्य करने लगे। क्षणभर में ब्रजनाथ अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथदास बाबाजीके चरणोंमें अपनी देह समर्पण कर दिये। वृद्ध बाबाजी उन्हें उठाकर गलेसे लगाते हुए बोले—‘बाबा! आज इस समय कैसे आये? तुम्हारे साथके ये महाजन कौन हैं?’

ब्रजनाथने विनीत शब्दोंमें उन्हें सारी बातें बतलायीं। तदनन्तर वैष्णवोंने दोनोंको बड़े आदरपूर्वक बैठाया।

विजयकुमारने बड़ी ही नम्रतासे श्रीमद् रघुनाथ दास बाबाजीसे पूछा—‘प्रभो! प्रयोजन प्राप्तिका उपाय क्या है? कृपाकर यह बतलाइये कि हम प्रयोजन कैसे प्राप्त करें?’

बाबाजी—‘आपलोग परमभक्त हैं। आप लोगोंने सब कुछ पा लिया है; तथापि जब आप अनुग्रह कर मुझसे जिज्ञासा कर रहे हैं, तब मैं जो कुछ जानता हूँ, बतला रहा हूँ। ज्ञान और कर्मसे शून्य कृष्णभक्ति ही जीवों का चरम प्रयोजन है और वही प्रयोजन-सिद्धिका उपाय भी है। साधनावस्थामें उसे साधन-

भक्ति और सिद्धावस्थामें उसीको प्रेम-भक्ति कहते हैं।’

विजय—‘भक्तिका स्वरूप-लक्षण क्या है?’

बाबाजी—‘श्रीमन्महाप्रभुकी आत्मासे श्रीरूप-गोस्वामीने ‘भक्ति-रसाभृतसिन्धुमें भक्तिका स्वरूप-लक्षण निरूपण किया है—

अभ्यामिभक्तिपिताशून्यं ज्ञानकमोक्षनावृत्तम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् भक्तिरुत्तमा ॥ (क)

(म. र. सि. पूर्व ल० ११४

इस सूत्रमें भक्तिके स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षणका विषदरूपसे विवेचन किया गया है। ‘उत्तमा भक्ति-शब्दसे शुद्धाभक्तिका तात्पर्य है। कर्ममिश्रा भक्ति या ज्ञानमिश्रा भक्ति शुद्ध भक्ति नहीं है। कर्ममिश्रा भक्तिका उद्देश्य भोग है तथा ज्ञानमिश्राका का उद्देश्य मुक्ति है। भुक्ति, मुक्ति और स्पृहा-शून्या भक्ति ही उत्तमा भक्ति है। भक्तिसे प्रेम-फल प्राप्त होता है। वह भक्ति क्या है? तन, मन और वचनद्वारा कृष्णानुशीलन रूप चेष्टा और प्रीतिमय मानस भाव ही भक्तिके ‘स्वरूप-लक्षण’ हैं। चेष्टा और भाव ये दोनों अनुकूल्यके साथ सर्वदा क्रियाशील रहते हैं जीवकी जो अपनी शक्ति है, उसपर कृष्णकृपा और भक्त-कृपासे भगवान्की स्वरूपशक्तिकीवृत्ति विशेषके उदय होने पर भक्तिका स्वरूप उदित होता है।

वर्त्तमान दशामें जीवका तन, मन और वचन, सब कुछ जड़-भावापन्न है। जीव जब अपनी विवेक शक्ति द्वारा उन्हें चलाता है, तब जड़-सम्बन्धी य ज्ञान और वैराग्यरूप शुष्क व्यवहार ही उदित होते हैं—उनसे भक्ति वृत्तिको उदय नहीं होता। कृष्णकी स्वरूप-शक्तिकीवृत्ति जब उनमें कुछ-कुछ क्रियावती होती है उसी समय शुद्धभक्तिवृत्ति प्रकाशित होती है। श्रीकृष्ण ही भगवत्ताकी सीमा है। अतएव कृष्णानुशीलन ही भक्ति-चेष्टा है। ब्रह्मका अनुशीलन और परमात्माका

(क) कृष्ण-सेवाके अतिरिक्त दूसरी दूसरी कामनाओंसे रहित, निर्भेद अज्ञ-ज्ञान, नित्य नैमित्तिक आदि कर्म, योग, तपस्या आदिसे सर्वथा अनावृत्त एवं अनुकूल भावसे कृष्णानुशीलनको उत्तमा भक्ति कहते हैं।

अनुशीलन रूप चेष्टाएँ ज्ञान-और कर्मके अंग हैं,— भक्तिके नहीं। चेष्टा दो प्रकारकी होती है—अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल चेष्टासे ही भक्ति सिद्ध होती है।

‘आनुकूल्य’—शब्दसे कृष्णके प्रति रोचमाना प्रवृत्तिको समझना चाहिए। यह अवस्था साधनकालमें कुछ स्थूल सम्बन्ध रखती है। परन्तु सिद्धिकालमें स्थूल जगत्से सर्व प्रकारसे सम्बन्धरहित होनेके कारण पूर्ण निर्मल होती है। इन दोनों अवस्थाओंमें भक्तिका लक्षण एक ही प्रकारका होता है। अतएव अनुकूल भावों के साथ कृष्ण-अनुशीलन ही भक्तिका ‘स्वरूप-लक्षण’ है।

‘स्वरूप-लक्षण’ के सम्बन्धमें कुछ बतलानेके लिये ‘तटस्थ-लक्षण’ भी बतलाना आवश्यक होता है। श्रीमद् रूप गोस्वामीने भक्तिके दो तटस्थ-लक्षण बतलाये हैं—एक अन्याभिलाषिता-शून्यता और दूसरा ज्ञान-कर्म आदिसे अनाधृतता। भक्तिकी उन्नति की अभिलाषाके अनिश्चित समस्त प्रकारकी अभिलाषाएँ भक्तिविरोधी हैं और अन्याभिलाषिताके अन्तर्गत हैं। ज्ञान, कर्म, योग और वैराग्य आदि प्रचल होकर हृदयको आवृत करने पर भक्ति-विरोधी कहलाते हैं। अतएव उक्त दोनों विरोधी लक्षणोंसे रहित होने पर ही अनुकूल भावसे जो कृष्णानुशीलन होता है, उसे ही ‘शुद्धभक्ति’ कहा जा सकता है।

विजय—‘भक्तिकी क्या क्या विशेषताएँ हैं?’

बाबाजी—‘श्रीमद् रूप गोस्वामीने’ भक्तिरसामृत सिन्धुमें भक्तिकी छः विशेषताओंका वर्णन किया है—

‘क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्ष-लघुताकृत सुदुर्लभा।

सन्द्रावन्द-विशेषात्मना श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ॥

अर्थात् (१) क्लेशघ्नी—सब प्रकारके दुःखोंका

नाश करती है।

(२) शुभदा—सम्पूर्ण कल्याणको देनेवाली है।

(३) मोक्ष-लघुताकृत—मोक्षको भी हेय समझती है।

(४) सुदुर्लभा—अत्यन्त ही दुर्लभ है।

(५) सन्द्रावन्द—घनीभूत आनन्द है।

(६) श्रीकृष्णाकर्षणी—श्रीकृष्णको आकर्षित करती है।

विजय—‘भक्ति क्लेशघ्नी कैसे है?’

बाबाजी—‘क्लेश’ तीन प्रकारके हैं—पाप, पाप-बीज और अविद्या। पातक, महापातक और अति पातक आदि क्रियाएँ ‘पाप’ हैं। जिनके हृदयमें शुद्धा-भक्ति आविर्भूत होती है, वे स्वभावतः पापकार्य नहीं करते। पाप करनेकी वासनाको ‘पाप-बीज’ कहते हैं। भक्तिपूर्ण हृदयमें पाप-वासना नहीं रहती। जीवके स्वरूप-भ्रमका नाम अविद्या है। शुद्ध भक्तिके उदय होने पर ‘मैं कृष्ण दास हूँ’ ऐसी बुद्धि सहज ही उदित होती है। अतएव ऐसी दशामें स्वरूप-भ्रम रूप अविद्या नहीं रहती। भक्ति देवीका प्रकाश फैलते ही हृदयसे पाप, पापबीज और अविद्यारूप अन्यकार दूर हो जाता है। भक्तिके शुभागमनसे सब प्रकारके दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिये भक्ति क्लेशघ्नी है।’

विजय—‘भक्ति शुभदा कैसे है?’

बाबाजी—‘सम्पूर्ण जगत्का अनुराग, समस्त सद्गुण और जितने प्रकारके दूसरे-दूसरे सुख हैं, वे सभी ‘शुभ’-शब्दके अर्थ हैं। जिसके हृदयमें शुद्ध भक्तिका उदय हो चुका है, वह दैन्य, दया, मान-शून्यता और मानद—इन चार गुणोंसे अलंकृत होता है। इसीलिये समस्त जगत् उसके प्रति अनुराग प्रकाश करता है। समस्त प्रकारके सद्गुण भक्तिमान पुरुषोंमें अनायास ही प्रकाशित होते हैं। भक्ति समस्त

शुद्धभक्ति हैते हय प्रेमा उत्पन्न। अतएव शुद्ध-भक्तिर कहिये लक्षण ॥

अन्य-वांचा, अन्य-पूजा आदि ज्ञान-कर्म। आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥

एह शुद्धाभक्ति इहा हैते प्रेमा हय। पंचरात्रे भागवते एह लक्षण कथ ॥

(चै. च. म. १४ १६६, १६८-१६९)

प्रकारके सुखोंको दे सकती हैं—इच्छा करनेसे वे विषय-सुख, निर्विशेष ब्रह्म-सुख, समस्त सिद्धि भुक्ति, मुक्ति आदि सब कुछ दे सकती हैं। परन्तु भक्त चतुर्वर्गका कुछ भी लेना नहीं चाहते। इसलिये भक्ति देवी उनको नित्य परमानन्द प्रदान करती है।

विजय—‘भक्तिमे'जको भी हृदय समझती है कैसे?’

बाबाजी—‘भगवद्‌रति थोड़ी मात्रामें भी यदि हृदयमें उदित हो जाय, तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सहज ही तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।’

विजय—‘भक्तिको सुदुर्लभा क्यों कहा गया है?’

बाबाजी—‘इस विषयका अच्छी तरहसे समझना चाहिए। लाख साधन करने पर भी भजन-कुशलताके अभावमें भक्तिकी प्राप्ति कठिन है। भक्ति देवी अधि-अधिकांश लोगोंको मुक्ति देकर ही सन्तुष्ट कर देती है—उच्च अधिकार देखे बिना भक्ति नहीं देती। इन्हीं दो कारणोंसे भक्ति सुदुर्लभा है। ज्ञान-साधनमें अभेद-ब्रह्म-ज्ञान रूप मुक्ति अवश्य ही मिलती है; यज्ञ आदि पुण्य कर्मोंसे भुक्ति भी सहज ही मिल सकती है; परन्तु भक्तियोगके बिना लाख साधन किये जानें पर भी ‘हरि-भक्ति’ नहीं पायी जा सकती है।’

विजय—‘भक्तिको धनीभूत आनन्द क्यों कहा गया है?’

बाबाजी—‘भक्ति चित् सुख है, अतएव आनन्द-समुद्र है। जड़-जगत्‌में जितने प्रकारके सुख हैं अथवा जड़ जगत्‌के विपरीत चिन्तामय जगत्‌में जो ब्रह्मानन्द है, उन सबको मिला कर करोड़ गुणित करने पर जो सुख होगा, उससे भी भक्ति सुख-समुद्रकी एक बूँदसे तुलना नहीं की जा सकती है। जड़ सुख नितान्त तुच्छ होता है। जड़-विपरीत सुख नितान्त शुष्क होता है। ये दोनों प्रकारके सुख ही

चित्तसुखसे विजातीय और विलक्षण होते हैं। विजातीय वस्तुओंकी परस्पर कोई तुलना ही नहीं है। इसलिए जिन्होंने भक्ति-सुखका आन्वादन पा लिया है, उनके निकट ब्रह्म-सुख गोप्य तुल्य प्रतीत होता है। उस सुखको वे ही जान सकते हैं, जो उसे पा लिये हैं; दूसरे उसे कह या समझ नहीं सकते।’

विजय—‘भक्ति श्रीकृष्णार्कप्रणी कैसे है?’

बाबाजी—‘जिनके हृदयमें भक्ति देवीका आविर्भाव होता है, श्रीकृष्ण अपने समस्त प्रियजनोंके साथ वशीभूत होकर उनके प्रति आकृष्ट हो पड़ते हैं। दूसरे किसी भी उपायसे कृष्णको वशीभूत या आकृष्ट नहीं किया जा सकता है।’

विजय—‘यदि भक्ति ऐसी ही उपादेय है, तब जो लोग अधिक शास्त्र पढ़ते हैं, वे भक्ति प्राप्त करनेके लिये क्यों नहीं प्रयत्न करते?’

बाबाजी—‘यथार्थ बात यह है कि मानव-बुद्धि ससीम है, अतः ऐसी ससीम और जड़ बुद्धि, जडा-तीत भक्ति-तत्त्व और कृष्ण-तत्त्व तक पहुँच नहीं पाती। परन्तु पूर्व-संचित सुकृतिके प्रभावसे जिनके हृदयमें थोड़ी भी रुचि उत्पन्न होती है, वे भक्ति-तत्त्वको सहज ही समझ सकते हैं—सौभाग्यवान् जीवके अतिरिक्त दूसरे भक्ति-तत्त्वको समझ नहीं सकते हैं।’

विजय—‘युक्तिकी प्रतिष्ठा क्यों नहीं है?’

बाबाजी—‘चित्त-सुखमें युक्तिका अधिकार नहीं है। इसलिये ‘नैपातर्कण’ (कठ १।२।६) (क) और ‘तर्कप्रतिघ्नानात्’ (ब्र. सू. २।१।११) (ख) आदि वचनोंद्वारा वेद और वेदान्तमें चिद्‌विषयमें युक्तिकी अकर्मण्यता दिखलायी गयी है।’

ब्रजनाथ—‘साधन-भक्ति और प्रेम भक्तिके बीच और कोई भक्ति है या नहीं?’

(क) नचिकेता ! तुमने आत्म-तत्त्व सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्त की है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं।

(ख) तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है। इसके द्वारा कोई वस्तु स्थापित नहीं की जा सकती है; क्योंकि आज एक व्यक्ति तर्क और युक्तिके जिसको स्थापित करता है, कल उससे अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति उसे रद्द कर देता है। इसलिये तर्कको अप्रतिष्ठा कही गयी है।

बाबाजी—‘हाँ है । साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति—ये भक्तिकी अवस्था भेदसे तीन प्रकारकी हैं ।’

ब्रजनाथ—‘साधन भक्तिका लक्षण क्या है ?’

बाबाजी—‘भक्ति एक ही है । भेद केवल अवस्था का है । बद्धजीवके इन्द्रियोंद्वारा जबतक वह साधित होती है, तभीतक उसे साधन-भक्ति कहते हैं ।’

ब्रजनाथ—‘आपने बतलाया है कि प्रेमभक्ति नित्यसिद्ध भाव है; फिर नित्यसिद्ध भावकी साधना कैसी ?’

बाबाजी—‘नित्य-सिद्धभाव वास्तवमें साध्य नहीं है, हृदयमें उसे प्रकट करनेका नाम ही ‘साधन’ है (क) । अभी तक हृदयमें प्रकाशित नहीं होनेके कारण (आच्छादित रहनेके कारण) कुछ दिनोंके लिये उसकी साध्यता है—स्वरूपतः वह नित्यसिद्ध भाव है ।’

ब्रजनाथ—‘कृपया इस सिद्धान्तको कुछ और स्पष्ट कीजिये ।’

बाबाजी—‘प्रेमभक्ति स्वरूप-शक्तिकी एक वृत्ति है—अतः वह अवश्य ही नित्यसिद्ध है । जड़वद्ध जीवके हृदयमें वह प्रकट नहीं है । तन, मन और वचनसे उसे हृदयमें प्रकट करनेके लिये जो चेष्टा की जाती है, वही उसकी ‘साधना’ है । जब तक वह साधित होती है, तब तक उसमें साध्यभाव है; परन्तु प्रकट होते ही उसकी नित्यसिद्धता स्पष्ट है ।’

ब्रजनाथ—‘साधनाका लक्षण क्या है ?’

बाबाजी—‘जिस किसी भी उपायसे कृष्णमें मन लगाया जाय, वही साधन भक्तिका लक्षण है ।’

ब्रजनाथ—साधन भक्ति कितने प्रकारकी होती है ?’

बाबाजी—‘दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा ।’

ब्रजनाथ—‘वैधीभक्ति किसे कहते हैं ?’

बाबाजी—‘जीवकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे उदित होती है । विधिके अनुसार जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे वैधी-प्रवृत्ति कहते हैं । शास्त्र ही विधि हैं । शास्त्रके शासनमें रह कर जिस भक्तिका उदय होता है, वह वैधी-प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेके कारण ‘वैधी-भक्ति’ कही जाती है ।’

ब्रजनाथ—‘राग’ का लक्षण पीछे जिज्ञासा करूँगा, अभी यह बतलाया जाय कि—विधिका लक्षण क्या है ?’

बाबाजी—‘शास्त्रोंमें जिसे कर्त्तव्य निरूपण किया गया है—उसे ‘विधि’ कहते हैं । शास्त्रोंमें जिसे अकर्त्तव्य बतलाया गया है, उसका नाम ‘निषेध’ है । विधियोंका पालन और निषेधका वर्जन करना ही जीवोंका वैध-धर्म है ।’

ब्रजनाथ—‘आपने जैसा बतलाया है उससे ऐसा जान पड़ता है कि समस्त धर्मशास्त्रोंके विधान ही वैध-धर्म हैं । समस्त धर्मशास्त्रोंके विधि-निषेधोंको पढ़ कर कलियुगके अत्यायु और दुर्बल जीवोंके लिये वैध-धर्मका निर्णय करना असंभव है । अतः संक्षेपमें विधि-निषेधका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोंमें कोई संकेत पाया जाता है या नहीं ?’

(क्रमशः)

(क) कृति-साध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा । नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राक्तन्यं हृदि साध्यता ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व जहरी २:२)

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कसु भय । श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय ॥

श्रवणादि क्रिया श्वार स्वरूप लक्षण्य । तटस्थ लक्षण्ये उपजय प्रेमधन ॥

(चै० च० म० २२।१०४-१०९)